मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्ध
के एक अंश का परिवर्तित रूप

गोविन्द चातक
एम० ए०, पी एच० डी०



राधाकृष्ण प्रकाशन

प्रकाशक :

ओमप्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
४ १४, रूपनगर, दिल्ली ७

मूल्य १० रुपये

गढ़भूमि के सुपुत्र
श्रद्धेय श्री भक्तदर्शन के
कर-कमलों में
सादर

आमुख

मध्य पहाड़ी का यह भाषाशास्त्रीय अध्ययन गढ़वाली की एक उपभाषा, उसके लोकगीत और उनमें अभिव्यक्त लोक-संस्कृति सम्बन्धी मेरे शोध कार्य का प्रतिफलन है। वस्तुत यह ग्रन्थ अविकल रूप में मूल शोध प्रबन्ध तो नहीं है किन्तु उसकी कई स्थापनाओं की व्यापक पृष्ठभूमि में किया गया विशिष्ट अध्ययन अवश्य है। सामान्यत मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत गढ़वाली और कुमाउँनी दोनों को सम्मिलित किया जाता है। इस ग्रन्थ में कुमाउँनी के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है, किन्तु मुख्यत यह मध्य पहाड़ी की एक बोली—गढ़वाली—का ही अध्ययन कहा जाएगा। इसलिए 'मध्य पहाड़ी' का भाषाशास्त्रीय अध्ययन होते हुए भी इसे गढ़वाली बोली का ही समग्र अध्ययन माना जाना चाहिए। 'मध्य पहाड़ी' शब्द का प्रयोग हमने भाषावैज्ञानिक सुविधा के कारण किया है। इसके साथ ही गढ़वाली और कुमाउँनी दोनों बोलियों की मौलिक एकता भी हमारे ध्यान में रही है।

पहाड़ी बोलियों का अध्ययन अपेक्षाकृत कठिन विषय है। एक तो इन पर अभी तक अधिकारी विद्वानों द्वारा शोध-कार्य नहीं हुआ है, दूसरी बात यह है कि इनमें लोक-साहित्य के अतिरिक्त लिखित भाषा और साहित्य के रूप की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। गढ़वाली लोकगीतों का अध्ययन करते हुए मैं भाषा के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ था किन्तु इस प्रकार का कार्य बहुत समय, बहुत साधन और बहुत सी कठिनाइयों की अपेक्षा करता है। उक्त अभाव में मैंने आगे आने वाले अध्येताओं के लिए एक आधार भूमि मात्र बनाई है।

मध्य पहाड़ी की भाषावैज्ञानिकता ने पर्याप्त उत्कर्ष पाया है। ग्रियर्सन के पश्चात आधुनिक युग के भाषावैज्ञानिकों ने (डा० धीरेन्द्र वर्मा [illegible]) प्रायः सभी ने उसके मूल और विकास के सम्बन्ध में अपरिपक्व विचार प्रकट किए हैं। मैंने उन भ्रान्तियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। एक अध्येता के नाते मुझे विश्वास है। मेरा अनुरोध है कि गढ़वाली में आगे किसी विद्वान भाषाविदों का ध्यान जाना चाहिए। ग्रियर्सन और डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वानों के सामने मैं नतमस्तक हूँ किन्तु

उनकी बातों को ब्रह्म वाक्य मानकर चलने वाले भाषावैज्ञानिकों को मैं नमस्कार ही कर सकता हूँ।

गढ़वाली या कुमाउँनी केवल भाषाएँ नहीं हैं—वे भाषा-तीर्थ हैं। हिमालय प्रदेश—नृतत्त्व की अनेक विशेषताओं से समन्वित है। यहाँ अनेक जातियों का नृवंशीय प्रसार हुआ है। इसीलिए अनेक जातियों, संस्कृतियों और परम्पराओं के विचित्र समन्वय के कारण पहाड़ी भाषाओं का विचित्र विकास हुआ है। मैंने इस अध्ययन में नवंशीय सूत्रों को पकड़ने का प्रयत्न किया है। इसीलिए पहले अध्याय में गढ़वाल की पर्वतीय भूमि का भौगोलिक ऐतिहासिक और पारम्परिक परिचय दिया गया है।

सामान्यत भाषाशास्त्री इस तरह के अध्ययन में अर्थतत्त्व को सम्मिलित नहीं करते। मैंने गढ़वाली के अर्थतत्त्व पर भी विचार किया है, और उसमें संतोष और सुख का अनुभव किया है।

हिन्दी के व्यापक भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसकी *और उससे संबद्ध बोलियों का पूर्ण अध्ययन हो किन्तु हिन्दी क्षेत्र एक विचित्र* प्रकार की अस्पृश्यता की भावना से ग्रस्त है। आज पहाड़ी बोलियाँ एक विचित्र उपेक्षा की शिकार हैं। प्रश्न है कि वे जिस तरह साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी का मुँह जोहती रही हैं, क्या उसी तरह वे हिन्दी के तथाकथित अस्पृश्यता-ग्रस्त भाषाशास्त्रियों का भी मुँह जोहती रहेंगी कि वे उस हिन्दी की पाँत में बिठाएंगे या अपनी बिरादरी से निकाल बाहर करेंगे? मैंने भाषाशास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। उत्तर भविष्य में होने वाले अध्ययनों पर निर्भर करेगा।

'सुमन स्मृति-ग्रन्थ' और 'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ' आदि ग्रन्थ रत्नों के प्रणेता और पर्वतीय प्रदेश की भाषा, साहित्य संस्कृति और राजनीति के भावक गर्भभूमि के सुपुत्र श्री भक्तदर्शन (उपशिक्षा मन्त्री, भारत सरकार) को यह पुस्तक समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष है।

डा० सुरेशचन्द्र गुप्त का सद्भाव इस पुस्तक के प्रकाशित कराने में मेरा प्रेरक रहा है। राधाकृष्ण प्रकाशन के श्री ओमप्रकाश ने इसके प्रकाशन में जो तत्परता दिखाई उसके लिए भी मैं आभारी हूँ।

—गोविन्द चातक

विषय-सूची

सामान्य परिचय

मध्य पहाडी का क्षेत्र

हिमालय के पाँच खण्डों में कूर्मांचल और केदारखण्ड ही मध्य पहाडी के क्षेत्र में आते हैं। मध्य पहाडी के अंतर्गत कूर्मांचली और गढवाली दोनों बोलियाँ आती हैं। किन्तु जहाँ तक प्रस्तुत अध्ययन का सम्बन्ध है वह केवल मध्य पहाडी की दो में से एक बोली—गढ़वाली—तक ही सीमित है। अतः यहाँ मध्य पहाडी के क्षेत्र, भौगोलिक पारम्परिक, ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए हम अपने अध्ययन को केदारखण्ड गढवाल, तक ही सीमित रखेंगे।

केदारखण्ड, उत्तराखण्ड, बुल्न हिमवन्त आदि नामों से ख्यात, गंगा और यमुना का मातृ गृह, हिमालय का दिव्य भाल गढ़वाल भारतीय धर्म भावना में सदा से पुनीत क्षेत्र रहा है। उत्तर में भोट (तिब्बत) पश्चिमोत्तर में हिमाचल प्रदेश तथा दक्षिण में कूर्मांचल और देहरादून से घिरा १०१४५ वर्ग मील और १२ लाख से अधिक जनसंख्या वाला यह पर्वतीय प्रदेश मध्यकाल में गढ़ों की अधिकता के कारण गढ़वाल कहलाया।

मध्य पहाडी का क्षेत्र गढ़वाल

गढ़वाल वास्तव में वन पर्वतों और नदियों का प्रदेश है। हिमालय की कुछ प्रसिद्ध चोटियाँ इसी क्षेत्र में पड़ती हैं जो वर्ष भर हिमाच्छादित रहती हैं। इनमें नन्दादेवी (२५ ६६०'), त्रिशूल (२३ ३६०'), कामत (२५ ४५०) चौखम्भा (२३ ४२०'), द्रोणागिरि (२० १८४'), नीलकण्ठ (२१,६४०), बन्दरपूँछ (२०, ७२०'), सतोपथ (२३ २४०) केदारनाथ (२३ ६६०') बद्रीनाथ (२२ ८३०), गंगोत्री (१ ३००) भारतकूट (२२ ८३३'), स्वर्गारोहण (२० २१५') आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश चोटियों पर अभियान हो चुके हैं। ये पर्वत शिखर सदा से दार्शनिकों और पर्यटकों को आकर्षित करते रहे हैं। सुप्रसिद्ध पर्यटक सर जॉन स्ट्रेची के शब्दों में मैंने बद्रीनाथ, केदारनाथ पर्वतों की दृश्य सुषमा में कहीं भी क्या गरिमा। गढ़वाल कुमाऊँ की घाटियों में प्रकृति का जो उनका की तुलना में नहीं आ सकती। किन्तु भव्य सौन्दर्य में उनमें से कोई भी हिमालय

१ हिन्दी ... [illegible]

२ ... [illegible] ॥

ऊँची नहीं है जितनी कि हिमाल श्रेणी की दूसरी कुछ चोटियाँ—यहाँ की केवल दो ही चोटियाँ २५००० फुट से अधिक ऊँची हैं, किन्तु गढ़वाल कुमाऊँ हिमाल श्रेणी की औसत ऊँचाई सबसे बढ़कर है। २० मील तक लगातार इसके कितने ही शिखर २२००० से २५००० फुट तक ऊँचे हैं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ जो पग पग पर तीर्थ और ऋषि मुनियों के साधनास्थल दिखाई देते हैं, उनके पीछे प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रेरणा ही काम करती दिखाई देती है। आज भी हम आध्यात्मिक चेतना से पृथक कर जब इन अधित्यकाओं को देखते हैं तो इनके अनुपम सौन्दर्य की दिव्यता और भव्यता से विमुग्ध हुए बिना नहीं रहते।

हिमालय की कुछ सुन्दरतम उपत्यकाएँ भी इसी क्षेत्र में हैं। बिस्टोला और बदिनी के बुग्याल, म्यूडार की फूलों भरी घाटी, रामासिराइ और कमलसिराइ के दूर दूर तक फैले हुए सोड, तौंस नदी के उद्गम के समीप स्थित हर की दून, पिंडारी नदी की तटवर्ती भूमि और चाँदपुर परगने की धनपुर पर्वत श्रेणी अपनी रमणीयता के लिए प्रसिद्ध हैं। कुमाऊँ के कमिश्नर ट्रेल ने एक शताब्दी पहले गढ़वाल के उपत्यका सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा था: "प्रकृति अपनी विशालता के साथ यहाँ अत्यन्त प्रियदर्शन हो उठी है। यहाँ हर एक जगह में ठीक स्विटजरलैण्ड जैसे गाँव मिलते हैं, जिनके चारों तरफ देवदारु के वृक्ष तथा ऊपर विशाल शैल और उनके शीर्षस्थान पर चमकती हुई हिमराशि की सीमा तक हरे भरे जंगल दिखाई पड़ते हैं।"[2] वर्षा-काल में जब पहाड़ों की बर्फ पिघल जाती है तब इन उपत्यकाओं में—जिन्हें स्थानीय बोली में बुग्याल या पयार कहा जाता है—रंग बिरंगे फूल खिल उठते हैं। जहाँ भी दृष्टि जाती है फूलों के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। इन्हीं फूलों के लिए गढ़वाल की म्यूडार घाटी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर चुकी है।[3] यहाँ फूलों की दो सौ से अधिक किस्में चुनी जा चुकी हैं।

वस्तुतः, यहाँ के बर्फ से ढके ढालू पर्वत, दूर दूर तक फैले हुए पयार और बुग्याल, हरे भरे चीड़, देवदारु, बाँज, और बुराँस के सुरम्य वन, उनकी छाया में बसे हुए छोटे छोटे गाँव, सीढ़ियों की भाँति उठते खेत, पर्वत की कटि से लिपटी सुन्दर सरिताएँ और वनों के एकान्त में चढ़ती-उतरती राहें—ये सब न जाने स्मृतियों में कितने विराट सौन्दर्य को अपने में समेटे हैं और उसकी अनुभूति न जाने कितने मानस और लोक भाषा को कितने रंगों से रंग देती है।

---

१ जॉन स्ट्रेची: इण्डिया, उद्धरण राहुल सांकृत्यायन: हिमालय परिचय (१), पृ० १० ।

२ वही, पृ० ६ ।

३ देखिए स्माइथ की पुस्तक 'द वैली ऑव फ्लावर्स'।

अनुश्रुति और परम्परा

अपने प्राकृतिक सौंदर्य, सरल और आदर्श जीवन और कुरु पांचाल की उत्तरी सीमा पर स्थित होने के कारण प्राचीन काल से ही ऋषि मुनियों का ध्यान हिमालय के इस खंड की ओर आकर्षित हुआ। वस्तुतः हिमालय का यह केदारखंड सदैव भारतीय धर्म भावना में भारतभूमि का धर्म क्षेत्र रहा है। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में इसके विविध उल्लेख मिलते हैं। विशेषतः पुराणों में इस क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण तथा महाभारत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीमद्भागवतपुराण पद्मपुराण, देवी भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि बड़े पुराण ग्रन्थों में केदार और बदरी क्षेत्र की महत्ता वर्णित हुई है। गढ़वाल के सम्बन्ध में सबसे अधिक सामग्री सम्भवतः स्कन्द पुराण के केदारखंड में मिलती है। गढ़वाल के केदारखंड नामकरण की व्याख्या विद्वानों ने कई रूप से की है। कुछ लोगों का विश्वास है कि यह क्षेत्र दलदल वाला रहा होगा। इसी प्रकार छोटे छोटे सीढ़ीनुमा खेत (कड़ारा केदारा क्षेत्र) होने के कारण भी केदारखंड नाम की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु स्कन्दपुराण में महिषासुर की उक्ति 'क दारयामि' (किसको जल में विदीर्ण करूँ?) को इस नामकरण का आधार कहा गया है। उसमें केदारखंड की तत्कालीन सीमा भी निर्धारित की गई है।[1] भागवत में नर और नारायण के अवतार का वर्णन और कृष्ण तथा उद्धव का बदरिकाश्रम में तपस्या करने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः जिन नर और नारायण को नमस्कार कर व्यास जी ने महाभारत का प्रारम्भ किया है वे दोनों पर्वत बदरीनाथ में हैं। बदरीनाथ के पास एक गुफा स्थित है जो व्यास गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है इसी गुफा में बैठकर व्यास जी ने ग्रन्थ रचना की थी। पुराणों में गढ़वाल की सुप्रसिद्ध नदी नयार को नवालिका कहा गया है। कहते हैं, इसी नदी के तट पर व्यास घाट नामक स्थान पर व्यास जी ने तपस्या की थी।

महाभारत की रचयिता ही नहीं, वरन् महाभारत के प्रमुख पात्र हिमालय के इस पुनीत क्षेत्र से सम्बद्ध थे। कहते हैं पांडवों का जन्म पाण्डुकेश्वर में हुआ था। पाण्डुकेश्वर का वर्णन महाभारत और स्कन्दपुराण दोनों में मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व में कहा गया है कि अर्जुन राजसूय यज्ञ के समय कुबेर से धन मांगने अलकापुरी आये थे। गढ़वाल में इस सम्बन्ध में आज भी एक सुप्रसिद्ध मान्यता

---

1 स [illegible] [illegible] [illegible] वर [illegible]।
[illegible] [illegible] पूर्व [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥

मिलती है।[1] पुराणों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि जीवन के अंतिम दिनों में वे केदारभूमि में शिवदर्शन के लिए आये थे किंतु शिव ने गोत्र-हत्यारों का मुँह न देखने के लिए भैंसे का रूप धारण कर लिया था। पांडवों की भाँति ही कर्ण और दुर्योधन आदि कौरवों के सम्बन्ध में इस क्षेत्र में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कर्ण की दिग्विजय में सम्भवतः हिमालय भी सम्मिलित था। कहा जाता है कि कर्ण प्रयाग में अलकनन्दा और पिंडरी नदी के संगम पर कर्ण ने तपस्या की थी। स्कन्दपुराण (केदारखंड अध्याय ८१) के अनुसार दानवीर कर्ण ने नन्द पर्वत के निकट शिवक्षेत्र में सूर्य भगवान का यज्ञ और शिव की आराधना की थी। टिहरी गढ़वाल के रवाईं क्षेत्र के कुछ गाँवों में कर्ण के मन्दिर मिलते हैं। इसी क्षेत्र के बाईस गाँवों में दुर्योधन को देवता मानकर पूजा जाता है और पांडवों का नाम लेना वहाँ निषिद्ध है। मन्दिर में दुर्योधन की उरु भंग वाली पीतल की मूर्ति मिलती है। सम्भवतः उरु भंग के पश्चात् दुर्योधन अपने कुछ स्वामिभक्त अनुचरों को लेकर सिंगतूर और फतेह पर्वत क्षेत्र में आकर रहने लगा होगा। यह स्थापना महाभारत काव्य के विरोध में जरूर पड़ती है क्योंकि महाभारत युद्ध में दुर्योधन का मारा जाना स्वीकार किया गया है। किन्तु काव्य-न्याय से बाहर अगर इस विषय पर सोचा जाय तो यह असम्भाव्य विचारणा नहीं। वस्तुतः जिस प्रकार पांडव स्वर्गारोहण के लिए केदार क्षेत्र में आये थे उसी प्रकार दुर्योधन भी यमद्वार घाटी में जाकर रहने लगा था जो बन्दरपूँछ पर्वत की तलहटी में स्थित है। वस्तुतः जिस स्वर्गारोहण पर्वत से पांडव स्वर्ग गए थे वह आज भी गढ़वाल में विद्यमान है।

गढ़वाली लोक गीतों में कृष्ण के सम्बन्ध में विविध प्रसंग मिलते हैं। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें सर्ग में इस बात का उल्लेख है कि वे बद्रिकाश्रम गए थे और उन्होंने उद्धव को भी वहाँ जाने का आदेश दिया था।[2] महाभारत के हरिवंश पर्व में कृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं बदरी जाकर पुत्र प्राप्ति का वर प्राप्त करूँगा। यहीं उन्होंने घण्टाकर्ण नामक यक्ष को पराजित किया था जिसकी कथा हरिवंश पुराण में मिलती है। घंटाकर्ण और घड़ियाल आज भी गढ़वाल में पूजा जाता है और गाँव गाँव में उसके मन्दिर मिलते हैं। गढ़वाल में कृष्ण के सम्बन्ध में यह जनश्रुति भी मिलती है कि जीवन के अंतिम दिनों में वे टिहरी-गढ़वाल के सेम मुखेम क्षेत्र में आकर रहने लगे थे। इस सम्बन्ध में लोक गाथाओं में कुछ सामग्री उपलब्ध होती है जिसमें वहाँ के सामन्त गंगू रमोला और उसके पुत्र सिदुवा बिदुवा के साथ

---

1. आकले और नरोत्तम बेरोला: हिमालय की लोक कथाएँ पृ० १३।
2. गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥

कृष्ण का मथुरा का वर्णन मिलता है। इसी मन्दिर के कारण सम्पूर्ण मे हर दानवदल कृष्ण की पातरा होता है और दूर दूर से नाना यात्री यहां आकर उनके दर्शन करते हैं।

यह भी कहा जाता है कि कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध और बाणासुर की पुत्री उषा का विवाह [illegible] के उखीमठ स्थान पर हुआ था। बाणासुर गढ़वाल के उस क्षेत्र का राजा था जिसे आज बामसू कहा जाता है। यहीं प्राचीन शोणितपुर रहा होगा। [illegible] और चट्टानें मिलती हैं जो शोणितपुर [illegible] की मान्यता सिद्ध करती हैं।

[illegible] राम से [illegible] अनेक अनश्रुतियाँ प्रच लित हैं। [illegible] मे [illegible] महात्म्य वर्णन करते हुए लिखा गया है कि प्राचीन काल में [illegible] नामक ब्राह्मण ने वहां जाकर साधना की थी। कहते हैं, उनका तपस्या से तुष्ट होकर राम रावण-वध के उपरान्त यहां आये थे।[1] देवप्रयाग मे रघुनाथ जी का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। १८०३ ई० के भूकम्प मे क्षतिग्रस्त हो जाने के पश्चात् [illegible] सिंधिया ने उसकी मरम्मत करवाई थी। अनुश्रुति है कि राम श्रीनगर मे आ गए थे और श्रीनगर के कमलेश्वर स्थान पर उन्होंने रावण-वध के पाप से मुक्त होने के लिए प्रतिदिन एक सहस्र कमल शिव को चढ़ाए थे।[2] अनु- श्रुति मे उनके आने का [illegible] नहीं मिलता। यह अवश्य कहा जाता है कि [illegible] के [illegible] आया था। वह क्षेत्र आज भी [illegible] के आधार पर [illegible] कहलाता है। राम के परम भक्त हनुमान तो सीधे [illegible] पर आ पहुँचे। इस [illegible] में यह अनश्रुति है कि लंका विजय के बाद [illegible] बदरी [illegible] आये और यहीं तपस्या करने लगे। कहते हैं [illegible] प्रति वर्ष एक हृष्ट पुष्ट वानर अयोध्या [illegible] है। इसी प्रकार [illegible] द्रोणगिरि का [illegible] माना जाता है जहाँ से लक्ष्मण को शक्ति लग जाने पर हनुमान [illegible] थे।

राम के [illegible] अनेक स्थानों का उल्लेख हो चुका है। देवप्रयाग के पास ही [illegible], सीतावनस्यू (सीतावनस्यू) तथा [illegible] स्थान भी इस [illegible] है। सीतावनस्यू क्षेत्र के फलस्वाड़ी गाँव के निकट [illegible] एक मेला लगता है जिसमे सीता जी के [illegible] की स्मृति आज भी सुरक्षित है। मेला एक खेत मे लगता है, जिसमें [illegible] होता है। [illegible] पताकाओं को फहरा [illegible] विशेष का विधिवत् पूजन कर वहाँ पर

[1] [illegible] पुराण [illegible] १५८।४५-५४।
[2] [illegible] १८८।८।

हाथों से खोदना प्रारम्भ करते हैं। लगभग हाथ भर की गहराई पर उन्हें एक शिला शिखर जो किसी गभस्य मंदिर के ऊपरी कलश की भांति प्रतीत होता है मिलता है। उसके बाद पूजन और चढ़ावा आरम्भ हो जाता है दोपहर के बाद सीता जी की गुड़िया का वेणीबंधन होता है और उनको ससम्मान गांव से विदा किया जाता है।[१]

रामायण में वाल्मीकि का आश्रम तमसा तट पर बताया गया है जहां सीता वनवास में रही थी। तमसा नाम की नदी गढ़वाल में भी मिलती है, जिसे स्थानीय लोग तौंस कहते हैं और जो अंग्रेजी व्यवहार के कारण टोंस हो गई है। तमसा केदारखंड में ही थी, इस बात का प्रमाण केदारखंड की सीमा का व्यक्त करने वाला पीछे उद्धृत किया श्लोक है जिसमें तमसातटत' आदि शब्द आए हैं।[२]

यह विचारणीय है कि उत्तराखंड की पौराणिक जनश्रुति पर राम और सीता का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कृष्ण पांडव और महादेव पार्वती का पड़ा है। केदारनाथ शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में माना जाता है। पार्वती पर्वत-कन्या थी। जनश्रुति बताती है कि शिव और पार्वती का परिणय त्रियुगीनारायण में हुआ था। गढ़वाल में पार्वती नन्दा कहलाती है और कई भागों में उनकी पूजा नन्दा पाती यात्रा उत्सव के रूप में की जाती है। सम्भवतः पितगृह में रहने के कारण ही पार्वती ननांदा से नन्दा कहलाई होगी। यह भी कहा जाता है कि भवानी ने जिस महिषासुर का मर्दन किया था वह गढ़वाल के उस स्थान पर वास करता था जिसे आज मखंडा (महिष खंड) कहकर पुकारा जाता है। भैंस की बलि के रूप में प्रचलित अठवाड़ प्रथा आज भी उस स्मृति को बनाए हुए है। उत्तरकाशी में शक्ति रूप अष्टधातु का एक त्रिशूल विद्यमान है जो गढ़वाल-कुमाऊं का सबसे पुराना पुरातात्विक अवशेष माना जाता है। केदारखंड (१४।८३) में इसके सम्बन्ध में यह उक्ति मिलती है

निक्षिप्ता यत्र पूर्व हि समरे देवतासुरे।
अद्यापि दृश्यते तत्र शक्तिर्धातुमयी शुभा॥

इसी प्रकार प्राचीन ऋषि-मुनियों के सम्बन्ध में भी गढ़वाल में अनेक जनश्रुतियां मिलती हैं। उदाहरण के लिए वशिष्ठ, अगस्त्य, जमदग्नि, परशुराम, जह्नु मार्कण्डेय नारद आदि का नाम लिया जा सकता है। स्कन्दपुराण के काशी खंड में उत्तरार्द्ध में वशिष्ठ के मुंह से कहलवाया गया है कि उन्होंने केदार की ६१ यात्राएं की थी। वशिष्ठ के पौरोहित्य में सुदास ने दाशराज्ञ युद्ध और पूर्व में जमुना तक की यात्रा की थी, यह ऋग्वेद में वशिष्ठ की उक्ति (७।१८।१९) से स्पष्ट

---

१ विस्तृत विवरण के लिए देखिए, अब्बर्तसिंह का लेख, 'कर्मभूमि' साप्ताहिक ३ अप्रैल १९६४ का अंक।

२ देखिए, पाद टिप्पणी, पीछे पृ० १४।

विस्तार बहुत दूर मदानी इलाका तक हुआ। दूसरी ओर उत्तरी सीमा पर तिब्बत (भोट) के शासकों से गढ़वाल को तीव्र सघर्ष झेलना पड़ा। इस सघर्ष ने गढ़वाल म शौर्य की प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया। जिस प्रकार हिन्दी म वीरगाथाओं की परम्परा को चारणों ने प्रश्रय दिया उसी प्रकार गढ़वाल के लोक गायकों न पवाड़ों की सृजना की। य पवाड़े तिब्बत तथा मदानी इलाकों क विरुद्ध हुए सघर्षों की कहानी सुनाते हैं और इस दृष्टि स व आज तक अपना ऐतिहासिक महत्त्व बनाए हुए हैं।

तिब्बत और गढ़वाल का सघर्ष कत्यूरियों क राज्यकाल म ही प्रारम्भ हो गया था। कत्यूरी राजा देवपाल (८१५ ५४ ई०) के अभिलेख म तिब्बत का उल्लेख भोट और लासत (ल्हासा ?) नामों म हुआ है और उस पर विजय प्राप्त करने का दावा भी मिलता है। यह स्पर्धा पँवारों के राज्यकाल मे उग्र रूप मे आ गई। महाराज मानशाह श्यामशाह महिपतशाह फतेहशाह आदि क राज्यकाल म इस सघर्ष के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। तिब्बत म दापा का राजा गढ़वाल का मुख्य प्रतिद्वंद्वी था। शताब्दियों तक दापा के लोग इस पार आकर लूट मार कर लिया करते थे। मानशाह उनको एक बार पराजित करने म सफल हुए थे। फलत सधि क उपलक्ष म गढ़वाल के राजा को प्रति वर्ष सवा सेर सोना और एक चार सींग वाला भेड़ा भेंट किया जाता था। श्यामशाह न उसम एक चवरी गाय और बढ़ा दी थी। सधि और करों क भुगतान होते रहने पर भी सघर्ष समाप्त नही हुआ। महिपतशाह के राज्य काल म दापा पर आक्रमण करन क लिए रिखोला लोदी और माधोसिह को भेजा गया था। इन दोनों भटों के सम्बन्ध म गढ़वाल म अनक वीरगाथाए मिलती हैं। गढ़वाल और तिब्बत के इस सघर्ष और सम्बन्ध के कारण मध्य पहाड़ी म कितने शब्द तिब्बती से आए होंगे इस बात का अध्ययन अभी तक होने को है।

मुगलों से गढ़वाल क क्या सम्बन्ध थ इस विषय म विस्तार स कुछ कहना सभव नहीं। कहा जाता है कि गढ़वाल क राजाओं को शाह की उपाधि उन्होंने ही प्रदान की थी। फरिश्ता न सभवत गढ़वाल के विषय म लिखा था 'दिल्ली का बादशाह उसका बड़ा सम्मान करता है। गगा और यमुना दोनों क उद्गम उसके राज म हैं।'[१] इस बात क भी सकेत मिलते हैं कि कर लेने के लिए अकबर का ध्यान गढ़वाल की ओर गया था। १७९६ ई० म हार्डविक न लिखा था अकबर के समय बादशाह न श्रीनगर के राजा स राजकीय आय और उसके नक्शे की माँगा। राजा न सेवक क साथ एक दुबले पतले ऊँट को भेजकर म नक्शा पेश करते हुए कहा हमारे देश की यही सच्ची तस्वीर है। ऊंचा, नीचा और बहुत गरीब। बादशाह न मुसकराते हुए कर माँगने का खयाल छोड़ दिया।[२] पृथ्वीपतिशाह के

१ हिमालय परिचय (१), पृ० १३६।
२ उद्धरण वही, पृ० १३६।

शासनकाल में शाहजहाँ ने १६५४-५५ ई० में खलीलुल्ला खाँ को आठ हजार फौज देकर गढ़वाल भेजा था। औरंगजेब के भय से भागकर सुलेमान शिकोह गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर पहुँचा था। जब गढ़वाल के राजा पृथ्वीपतिसिंह ने सुलेमान को लौटाना स्वीकार नहीं किया तो औरंगजेब ने इस घाटी पर आक्रमण किया। इतिहासकार बर्नियर का कथन है 'औरंगजेब श्रीनगर के राजा से ऐसा डरता था कि पहाड़ी नदी की बाढ़ की तरह वह मुगल साम्राज्य को न ले डूबे। मुगलों के इन आक्रमणों की स्मृति स्थानीय लोकगीतों में आज भी सुरक्षित है।

जनजीवन और सांस्कृतिक दृष्टि से भी गढ़वाल इस समय मैदानी भाग से असम्बद्ध नहीं रहा। नाथसिद्धों और कबीर-पंथियों ने समस्त गढ़वाल को प्रभावित किया। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की खोजें हमारे कथन की पुष्टि करती हैं। हिन्दी के महाकवि भूषण का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया जा सकता है। यह सिद्ध है कि भूषण ने (मतिराम, नीलकंठ और रतन ने भी) श्रीनगर के राजा फतहशाह के शासनकाल में गढ़वाल की यात्रा की थी। रतन कवि का 'फतहप्रकाश' गढ़वाल के इसी राजा फतहशाह की कीर्ति का द्योतक है। अनवर मियाँ मुल्ला ने गढ़वाल के श्रीनगर को काश्मीर का श्रीनगर माना है। मतिराम के सम्बन्ध में उन्होंने वृत्तकौमुदी में श्रीनगर की कल्पना की है। गढ़वाल-नरेश फतहशाह को फतहशाह बुन्देला बहन की भूल की है। हाल ही में श्री सूरवीरसिंह ने रतन कवि लिखित 'फतहप्रकाश' का सम्पादित कर प्रकाशित करवाया है जिससे हिन्दी कविता के विकास में गढ़वाल के योगदान का आभास मिलता है।

गढ़वाल के इतिहास की दूसरी सबसे बड़ी घटना गोरखा आक्रमण की घटी जिसका नाम यहाँ का स्थानीय जन आज भी 'गोरख्याणी' के नाम से स्मरण करते हैं। १७९१ ई० में नेपाली सेना ने गढ़वाल की ओर प्रयाण किया। १८०४ ई० में जब देहरादून के खुड़बुड़ा नामक स्थान पर उनका मुकाबला करते हुए महाराजा प्रद्युम्नशाह का प्राणान्त हो गया तो गढ़वाल गोरखा के हाथ में आ गया। तभी अंग्रेजों ने उनकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया और १८१५ ई० में वे गढ़वाल को गोरखों से मुक्त कराने में ही सफल नहीं हुए वरन् इसी उपलक्ष में उसके आधे भाग के अधिकारी भी बन बैठे। फलतः गढ़वाल दो भागों में विभक्त हो गया। टिहरी-गढ़वाल को पँवार वंश के शासन से मुक्ति पाने के लिए क्रान्ति करनी पड़ी और अब स्वतन्त्रता के पश्चात समस्त गढ़वाल चार जिलों में बँटकर भी अपनी एकता को बनाए हुए है।

गढ़वाल के इस भौगोलिक, पौराणिक और ऐतिहासिक अध्ययन के पश्चात यह कहना अनुचित न होगा कि इन सब परिस्थितियों और घटनाविधा का बड़ा

---

¹ द्रष्टव्य सूरतसिंह, ब्रह्मदास की भूमिका पृ० ७।

की भाषा और लोक साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। आगे के पृष्ठों में गढ़वाली भाषा का विवेचन करते हुए हम इन सम्बन्ध-सूत्रों की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे। गढ़वाल एक प्रदेश है, किन्तु एक प्रादेशिक इकाई नहीं है—यह भारत का सूक्ष्म रूप है। इसकी भाषा और संस्कृति में कोल, भील, किरात, किन्नर, यक्ष, नाग, खश, हूण, द्रविड़, शक, गुर्जर और आर्य आदि अनेक जातियों की संस्कृति का समावेश है। इसके साथ ही, यह भी निर्विवाद सत्य है कि अपूर्व सौन्दर्य, शान्ति, तप-साधन, शरण, राज्य लिप्सा आदि अनेक कारणों से समय समय पर भारत के विभिन्न भागों से यहाँ अनेक जातियाँ आती रही हैं। इसीलिए यह क्षेत्र राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशों से भी आश्चर्यजनक निकटता का निर्वाह करता प्रतीत होता है। वस्तुतः अगर हम गढ़वाल की भाषा और संस्कृति को खनना चाहें तो लगता है जैसे यहाँ की भाषा और संस्कृति के ऊपर इतिहास एक के बाद एक तह जमा करता गया है।

गढ़वाली भाषा में अधिक साहित्य नहीं मिलता। गढ़वाली में लिखित साहित्य की नींव तो बहुत बाद में उन्नीसवीं शताब्दी में पड़ी किन्तु लोक-साहित्य का भंडार यहाँ शताब्दियों से निरन्तर भरता रहा। लोक-साहित्य का रचने वाली लोक की प्रत्येक सजीव संवेदक इकाई हृदय से कवि होती है। जिस प्रकार आदिकवि का विषाद स्वयं काव्य बन गया था उसी प्रकार अनजान गढ़वाली नारी के एकान्त क्षणों का विषाद प्रसादमयी वाणी स्वतः गीत बनकर प्रस्फुटित होती है और लोक साहित्य को अपनी गरिमा से भर देती है। गढ़वाल के गायक नर्तक जाति के बादी लोग तो आशु-कवि ही होते हैं। उसी प्रकार जागरी पुरोहित देवता को नचाते उनका जागर गाते हुए भक्ति भाव के उद्रेक में अनजान ही काव्य की सृष्टि कर जाते हैं। वनों में घास लकड़ी काटते हुए युवक युवतियाँ अनायास ही गीतों की रचना कर डालते हैं। भेड़ बकरियाँ चराते हुए छोटे बच्चे बुझौवल बनाते और बूझते हैं और उन्हें सुलाने और मन बहलाने के लिए बड़ों और कुलवधुओं के मुख से मृदु मंद लोरियाँ और कथा कहानियाँ न जाने कैसे आप-से आप जन्म ले लेती हैं। और फिर इस प्रकार लोक की अनुभूतियाँ लोकभाषा की ममता प्राप्त कर गीत, कथा, कहावत, बुझौवल आदि विविध रूप और शिल्प ग्रहण कर लोक साहित्य, भाषा और संस्कृति के विशाल वट वृक्ष को पुष्ट करते मिलते हैं।

मध्य पहाड़ी
गढ़वाली

गढ़वाली बोली

गढ़वाली मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत आती है। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन करते हुए मध्य पहाड़ी की स्थिति भीतरी उपशाखा में निर्धारित की है।[1] बाद में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की स्थापना से मतभेद प्रकट करते हुए भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण बहुत कुछ अपने ढंग से अवश्य किया पर पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी सूझ ग्रियर्सन से आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने भी उन्हें दरद अथवा खश प्राकृत से सम्बन्धित बनाकर और मध्यकाल में उन पर राजस्थान की प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव घोषित कर अपने वक्तव्य की इतिश्री कर दी।[2] तब से हिन्दी में यह परम्परा बद्धमूल-सी वर्षों से हिन्दी के विद्वानों के बीच निर्बाध रूप से निभाई जा रही है।

ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार हार्नले की स्थापनाएँ थीं।[3] आधुनिक आर्य भाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि आर्य भारत में कम-से-कम दो बार आए और नवागत आर्यों के आने के कारण पूर्वागत आर्यों को पूर्व दक्षिण और पश्चिम में फैलना पड़ा। ग्रियर्सन ने इसी सिद्धान्त का उपयोग करते हुए अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। डॉ० चाटुर्ज्या का वर्गीकरण भौगोलिक है और वे बाहरी और भीतरी उपशाखा वाले विचार का समर्थन नहीं करते। किन्तु स्वयं डॉ० चाटुर्ज्या भी इस बात को मानते हैं कि भारत में आर्यों की अनेक शाखाएँ प्रवेश करती रहीं और प्रत्येक शाखा की बोली की अपनी विशेषताएँ थीं।[4] ग्रियर्सन की धारणा एकदम अविचारणीय नहीं है। गढ़वाल के कुछ विद्वानों ने भी इस ओर संकेत किया है कि आर्यों के एक दल ने गढ़वाल में होकर प्रवेश किया था और उन्होंने वहाँ अपनी बस्तियाँ भी बसाई थीं। ये तथ्य भाषा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। वस्तुतः, मध्य पहाड़ी के बारे में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत स्थापनाएँ भ्रामक हैं।

दूसरी बात पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में डॉ० चाटुर्ज्या की एक और विचित्र

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, भा० ९, पृ० १००।

२ ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑव बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६।

स्टन हिन्दी ग्रैमर, भूमिका पृ० ३२।

४ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ०३।

धारणा से सम्बद्ध है। वे पहाड़ी भाषाओं को अपने वर्गीकरण में उदीच्या प्रतीच्या, मध्यदेशीय, दक्षिणात्या और प्राच्या में कहीं भी स्थान नहीं देते। केवल अलग से उनका मूलाधार दरद पैशाची या खश उल्लेख कर उसे राजस्थानी की ही एक शाखा बताकर एकाध पंक्ति में ही अपना निर्णय दे डालते हैं। यही नहीं, वे गुजरों की भाषा को भी जिसने राजस्थानी और गुजराती को प्रभावित किया (और जिसने उनके अनुसार बाद में गढ़वाली को भी प्रभावित किया) सन्देह की दृष्टि से दरद ही मानते हैं।

यह स्थापना वास्तव में इस भ्रान्ति पर आधारित है कि गढ़वाल के निवासी खश थे। खशों को दरद माना जाता है और प्रागैतिहासिक काल में वे हिमालय के उस भाग में बहुत प्रभावशाली रहे हैं जहाँ की भाषा आज काश्मीरी, लहन्दा, शीणा, कोहिस्तानी आदि हैं। हिन्दुकुश और भारतीय सीमान्त का भाग दरदिस्तान कहलाता था और यहाँ के निवासियों को पिशाच कहते थे। पैशाची और दरद भाषाओं को लेकर यदि गढ़वाली बोली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट साम्य के बहुत कम आधार मिलेंगे। दरद मूल की बात तो दूर रही, दरद प्रभाव भी गढ़वाली पर उस मात्रा में नहीं है, जिसमें वह उदीच्या पर विद्यमान है। हिमालय में ज्यों ज्यों हम पूर्व की ओर चले जाते हैं, यह प्रभाव कम दिखाई देता है। इस सत्य को ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है और सम्भवतः डॉ० चाटुर्ज्या भी करेंगे। वास्तव में काश्मीर का निकटवर्ती क्षेत्र ही दरद भाषा का केन्द्र है। मध्य पहाड़ी और नेपाली उससे बहुत कम प्रभावित हुई हैं। दरद भाषाओं की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उनमें नहीं प्राप्त होतीं। हाँ पश्चिमी पहाड़ी पर अवश्य दरद प्रभाव है।

खशों का प्रसार हिमालय में हिन्दुकुश से नेपाल तक था। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु मध्य और पूर्वी हिमालय में वे उतने प्रभावशाली नहीं रहे जितने कि पश्चिम में। यदि सभी पहाड़ी भाषाओं का मूल दरद या खश ही होता तो उनमें बहुत बड़ी समानता होती। ठीक इसके विपरीत काश्मीरी आदि दरद भाषाएँ मध्य पहाड़ी तथा पूर्वी पहाड़ी से बिल्कुल पृथक अस्तित्व प्रकट करती हैं।

इसी सन्दर्भ में इस धारणा पर भी विचार कर लेना चाहिए कि मध्य पहाड़ी का सम्बन्ध पैशाची से है। ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची का प्रारम्भिक स्थान पश्चिमोत्तर क्षेत्र था और सम्भवतः हिमालय तथा हिमालय की तराई का बहुत सा भाग उसमें सम्मिलित था। वैयाकरणों ने केकय शौरसेन और पांचाल पैशाची के साथ साथ चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है। किन्तु जहाँ तक पूर्वी और मध्य पहाड़ी का प्रश्न है यह निश्चित है कि उस पर दरद अथवा पैशाची का प्रभाव नहीं है। उदाहरण के लिए वररुचि, हेमचन्द्र से लेकर पुरुषोत्तम देव तक वैयाकरणों ने

लिखा है कि पैशाची म आदि रहित वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम और द्वितीय वर्ण हो जाते हैं (जस नगर>नकर) किन्तु मध्य पहाडी मे यह प्रवृत्ति नहीं है। रफ और णकार का लकार और नकार हो जाना, ष्ट स्न का सट सन, न, ण्य न्य का ञ्ञ हो जाना मध्य पहाडी म सम्भव नहीं। धातुरूपा म पैशाची म वर्तमान काल मे तिङ् विभक्ति का त का द नहीं होता—भवति> पशाची फोति, गढवाली>हा।

अब रही खस प्राकृत की बात मध्य पहाडी के लिए अलग से एक प्राकृत की कल्पना भी भ्रामक है। ऐसा कोई नाम प्राचीन ग्रन्थो मे नही मिलता। उत्तर म बोली जाने वाली भाषाओ में पशाची तथा चूलिका पैशाची नाम अवश्य मिलत हैं किन्तु पशाची उत्तर म ही बोली जाती हो, ऐसी बात न थी। रामकृष्ण की प्राकृत चन्द्रिका म ११ प्रकार की पशाची का उल्लेख मिलता है। राजशेखर ने अवन्ती, पारियात्र और दशपुर तक को पैशाची का क्षेत्र माना है और लक्ष्मीधर न उसकी सीमा को और आगे बढाकर बाह्लीक पाड्य कुतल, नेपाल गाधार आदि सुदूर प्रदेशो तक विस्तृत कर दिया। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि मार्कण्डेय ने पैशाची के जो तीन भेद गिनाए हैं, उनम एक शौरसेन पशाची भी थी, जो शौरसेनी पर आधारित थी। यदि हम शौरसेनी का इतना व्यापक रूप स्वीकार कर लें कि उसका प्रसार हिमालय तक सम्भव मान लें तो वहाँ शौरसेन प्राकृत क किसी रूप की कल्पना अवश्य की जा सकती है। किन्तु प्रत्येक मध्य भारतीय आय भाषाओ और विभाषाओ के लिए पृथक् पृथक् पूर्ववर्ती प्राकृत या अपभ्रश की अनिवार्य रूप से कल्पना करना युक्तिसगत नहीं जान पडता। ऐसा अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि शौरसेन पशाची के समान ही शौरसेनी का कोई और पर्वतीय रूप भी रहा होगा। वास्तव म मध्य और पूर्वी पहाडी का मूल कोई खस दरद या पशाची प्राकृत नहीं है। व स्पष्टत शौरसेनी स सम्बन्धित हैं। मध्य पहाडी की मूल भित्ति शौरसेनी की है। उस पर बाह्य प्रभाव पडे हैं यह सहसा अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु व प्रभाव इतने निर्णायक नहीं हैं कि मध्य पहाडी को भारतीय आयभाषाओ से विलग मान लिया जाए। स्वय ग्रियसन ने, जिनके सामने खस और दरद मूल की बात ही मुख्य थी, मध्य पहाडी के सम्बन्ध म इस सत्य को हल्के ढग से स्वीकार किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत आधुनिक आय भाषाओ का स्थिति निर्देशक पट इस बात का प्रमाण है। ग्रियसन द्वारा प्रति पादित दरद मूल का विचार फिर भी प्रचलित रहा। सौभाग्य की बात है कि अब हिन्दी के विद्वानों न इस पर मौलिक ढग से विचार करना प्रारम्भ कर दिया है और व पहाडी भाषाओ का शौरसेनी से प्रसूत मानने लग हैं। इस दृष्टि से डॉ० धीरेन्द्र वर्मा क विचार विशेष रूप स महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने पहाडी भाषाओ का

सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से निर्धारित किया है।[1] यही नहीं, व्रजभाषा का अध्ययन करते हुए उन्होंने पहाड़ी के साथ उसके साम्य के अनेक उल्लेख भी किए हैं।[2] डा० उदयनारायण तिवारी ने भी उसे शौरसेनी से ही प्रसूत माना है।[3]

पर ये स्वीकृतियाँ इतने धीमे स्वर में व्यक्त की गई हैं कि डा० चाटुर्ज्या द्वारा उत्पन्न भ्रांति ज्यों की त्यों बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खश और दरद भी आर्य थे। उनकी भाषा भी आर्यों से मिलती-जुलती रही होगी, किन्तु भारत में उस भाषा ने पश्चिमोत्तर में जो रूप धारण किया उसका मध्य पहाड़ी से कोई साम्य नहीं। वस खश या दरद लोग पंजाब और बंगाल तक भी फैले, पर पंजाबी और बंगला दरद भाषाएं नहीं हैं। उसी प्रकार चाहे मध्य पहाड़ी क्षेत्र के लोगों को हम हठपूर्वक खश ही मानें, किन्तु उनकी भाषा खश या दरद कदापि न थी। वह शौरसेनी की ही कोई उपभाषा थी, जिसका प्रसार पहाड़ों तक था।

उत्तर भारत की सभी भाषाओं और बोलियों का उद्गम स्थल मध्यदेश ही है। इस भू भाग की सीमा का विकास यद्यपि बाद में बढ़ गया, किन्तु प्रारम्भ में केवल कुरु पांचाल और हिमालय प्रदेश के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता था।[4] यह प्रदेश अपनी भाषा के लिए सर्वोत्तम माना जाता था। समय की गति के साथ यहां की भाषा ने वैदिक छांदस संस्कृत पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई रूप ग्रहण किए। दसवीं अथवा ग्यारहवीं शती में जाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं विकास में आयीं। मध्य पहाड़ी का विकास भी इसी क्रम में हुआ है। उसका उदभव कोई आकस्मिक स्फोट नहीं है वरन् वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी परम्परा उसमें समाहित है।

पीछे कहा जा चुका है कि वैदिक आर्य गढ़वाल से अपरिचित न थे। यह प्रदेश सदा से ऋषि मुनियों की दृष्टि में रहता आया है। जनश्रुतियों और लोक विश्वासों के आधार पर ऐसे अनेक तपोधनों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने तपस्या के लिए इस क्षेत्र को चुना था। महाभारत और पुराण ग्रंथों में इस विषय पर विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। बौद्धकाल में 'चुल्ल हिमवन्त' स्यात् प्रदेश में से था और बौद्धों का उस पर कम प्रभाव न था। वस्तुतः प्राचीन आर्य भाषा से गढ़वाल का सम्बन्धित होना कोई अस्वाभाविक और आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है। आज भी गढ़वाली बोली में अनेक ऐसे शब्द उपलब्ध हैं जो वैदिक हैं और जिनका प्रयोग हिन्दी अथवा भारत की किसी अन्य भाषा में प्रचलित नहीं है। वास्तव में उत्तर की लौकिक भाषा संस्कृत के बहुत निकट थी और बहुत बाद तक भी वह उस

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ५८।

२ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्रजभाषा।

३ डॉ० उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १७०।

४ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० १।

परम्परा की निशानी रही।

मध्यकालीन आर्यभाषा काल में जब अनेक उप भाषाओं का विकास हुआ, तब पहाड़ों में उसका कौन-सा रूप विद्यमान था, यह बताने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्राकृत भाषाएं जिस घनिष्ठता के साथ वैदिक बोलियों से सम्बन्धित रहीं, उसी सम्बन्ध का निर्वाह उन्होंने अपभ्रंश और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साथ भी किया है। यद्यपि प्राकृत भाषा के मूल में संस्कृत के समान और बोलियाँ भी रही हैं फिर भी संस्कृत का दाय प्राकृत भाषाओं को ही मिला और प्राकृत का उसकी परवर्ती भाषाओं को। गढ़वाली बोली में भी प्राकृत और अपभ्रंश का दाय बहुत स्पष्ट है। शब्द ध्वनि रूप-परिवर्तन क्रिया रूपों आदि में उसे आज भी पहचाना जा सकता है।

सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति अपभ्रंश गढ़वाली की जननी है। छठी शताब्दी के बाद मध्यकालीन आर्य भाषा के विकास के तृतीय चरण में अपभ्रंश का उदय माना जाता है। अपभ्रंशों में केवल शौरसेनी अपभ्रंश की ही पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलने वाले जनपदों की आर्य भाषाओं के उद्गम के सम्बन्ध में विचार करना सरल नहीं है। किन्तु गढ़वाल के सम्बन्ध में यह कठिनाई नहीं है। भरत मुनि के कथन के अनुसार हिमवत सिन्धु और सौवीर में उकार बहुला भाषा का प्रयोग होता था।[1] विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह उकार-बहुला भाषा अपभ्रंश थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवत सिन्धु सौवीर प्रदेश ही आरम्भिक अपभ्रंश का क्षेत्र था। डा० नामवरसिंह की स्थापना के अनुसार तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर की बोली थी, वही क्रमशः विकसित होती हुई मध्यदेश और पश्चिमी भारत तक फैल गई।[2] इस तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि अपभ्रंश को आभीरादि गिरा अथवा नाग भाषा कहा गया है। नाग जाति के लोग हिमालय में बड़े प्रभावशाली रहे हैं। गढ़वाल के सन्दर्भ में हम उनकी चर्चा पीछे कर आए हैं। नागों का मूलस्थान पाताल कहा गया है जो काश्मीर के पाददेश का नाम बताया जाता है। आभीर जाति का प्रसार समस्त उत्तर भारत में महत्वपूर्ण रहा है। आभीर सम्भवतः बाहर से आयी हुई जाति थी। इसलिए प्राचीन ग्रन्थों में उनका उल्लेख शूद्र और म्लेच्छ के रूप में हुआ है। एक समय था जब कि आभीर उत्तर में नेपाल तक और दक्षिण में गुजरात महाराष्ट्र और सौराष्ट्र तक दूर दूर तक फैल गए थे। इस अवस्था में आभीरों के नाम से अनेक बोलियों और विभाषाओं का प्रचलन आश्चर्यजनक नहीं। गुजरात के कई क्षेत्रों में अहीरी

१ हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये ऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुला तेषु नित्यं भाषा प्रयोजयेत्॥ (नाट्यशास्त्रम्)

२ डा० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २५।

स्मिथ यह भी कहते हैं कि गुजर (राजपूत पवार, सोलकी चौहान, प्रतिहार) नवी दसवी शताब्दी म फिर हिमालय मे फल गए। इस प्रकार का जो कारण व देते हैं वह बिलकुल थोथा और असगत लगता है। ग्रियसन न स्मिथ की बात को लेकर यह प्रस्थापना की कि राजस्थाना का भाषा क रूप म उपाजित करन क पश्चात गुजर हिमालय की ओर उन्मुख हुए। इस कथन म कोई तथ्य नही है। राजस्थानी और पहाडी भाषाओ क बीच जो साम्य दिखाई दता है उसका कारण गुजरो का राजस्थान स हिमालय म जाना नही है बल्कि उनका—एक ही जाति का—हिमालय, गुजरात महाराष्ट्र राजस्थान आदि म फल जाना है। स्पष्टत इस साम्य का कारण गुजर जाति और उसका पश्चिम से पूव और दक्षिण की ओर प्रसार मात्र कहलाया जा सकता है।

इस सत्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि गढवाली और राजस्थानी मे कुछ समानताए हैं। इन समानताओ का उल्लेख करते हुए मेरी पुस्तक 'गढवाली भाषा' की भूमिका म डा० भोलाशकर व्यास ने लिखा है

इन समानताओ मे पहली समानता ध्वन्यात्मक है। राजस्थानी तथा गढवाली दोनो म ण, ड तथा ळ ध्वनियाँ समानत पायी जाती हैं। यद्यपि ड ध्वनि परिनिष्ठित एव कथ्य खडी बोली म भी पायी जाती है किन्तु वहा यह उत्क्षिप्त मूर्धन्य (प्रतिवेष्टित) 'ड' का ही ध्वन्यग (ऐलाफोन) है स्वतन्त्र ध्वनि (फोनीम) नहा। राजस्थानी की भाँति गढवाली म भी 'ड' तथा 'ळ' स्वतन्त्र ध्वनियाँ हैं यद्यपि य कवल स्वर मध्य तथा पदान्त में ही पायी जाती हैं पदादि म नही। ठीक यही बात ण ध्वनि क विषय म कही जा सकती है। यह भी इन दोनो बोलियो म परिनिष्ठित खडी बोली की तरह न का ध्वन्यग नही है तथा यह ध्वनि कथ्य खडी बोली तक म पायी जाती है। ऐसा जान पडता है भारत क नक्शे म हम पहाडी प्रदेश स चलकर खडी बोली के मूल प्रदेश पजाबी प्रदेश राजस्थानी, गुजराती, मराठी भाषी प्रदेशो का उस वग मे विभक्त करना होगा जहाँ स्वरमध्य ण सुरक्षित रहा है।

कहने का तात्पय यह है कि गढवाली ध्वनि सघटना ब्रज कन्नौजी या बुन्देली की अपेक्षा राजस्थानी गुजराती मराठी के अधिक समीप है इसे कोई इन्कार नही करेगा। राजस्थानी भाषा से गढवाली म एक महत्त्वपूर्ण समानता यह पायी जाती है कि यहाँ पदमध्य महाप्राण ध्वनि की प्राणता प्राय पदादि स्थित व्यजन म अन्तर्भुक्त हो जाती है। यदि पदादि में सघोष अल्प प्राण ध्वनि है तो उस महा प्राण न बनाते हुए भी पदमध्य महाप्राण ध्वनि की प्राणता का लोप देखा जाता है। इस प्रक्रिया से ही सम्बद्ध वह प्रक्रिया है, जहाँ पदमध्य ह का लोप कर उसके स्थान पर आदवणित या कठनालिक स्पश का उच्चारण पाया जाता है। पूर्वी राजस्थानी म गढवाली की एक अन्य समानता पदान्त श्रो ध्वनि का सानुनासिक उच्चारण है। पूर्वी राजस्थानी म प्राय पदान्त अनुनासिक व्यजन के बाद श्रो ध्वनि होने पर

उसका उच्चारण कें पाया जाता है—नान्, माम् दाम् आदि। इसी तरह उसमें क्रिया के तुमन्त रूप प्राय णू वाले पाए जाते हैं जिनका गुजराती रूप णु है। गढवाली में भी खड़ी बोली हिन्दी की तरह ही य रूप न या वाले ही हैं ब्रज की तरह वो वाले नहीं, जैसे पूर्वी राजस्थानी पढणू पडसी' (पढना पडेगा)। लेकिन जहा खड़ी बोली में तुमन्त रूप आकारान्त है, वहा गढवाली में वे सम्भवत ओकारान्त थे, जो अनुनासिक व्यंजन के प्रभाव में कें कारान्त हो गये हैं।

"राजस्थानी तथा गढवाली की परसर्गात्मक संघटन में भी कुछ समानताएँ देखी जा सकती हैं, किन्तु गढवाली पर अवांतर प्रभाव ज्यादा दिखाई पड़ते हैं। राजस्थानी की तरह यहाँ भी कर्ता में न, कर्म में कू, करण में सें सम्प्रदान में क, साई (गढ० तई,), कू अपादान में से तैं, सम्बन्ध में को, का, की, रो (गढ० रू), रा री, अधिकरण, मा पाए जाते हैं, किन्तु गढवाली में कई दूसरे परसर्ग भी हैं, जो यहाँ नहीं मिलते। पूर्वी राजस्थानी में ता न (हि० ने) कर्ता कर्म तथा सम्प्रदान तीनों में पाया जाता है।

'न (गढ० न) परसर्ग का कर्म तथा सम्प्रदानगत प्रयोग यहाँ नहीं देखा जाता, किन्तु डॉ० चातक ने इसका करण तथा अपादान वाला प्रयोग संकेतित किया है। राजस्थानी की तरह गढवाली के सबल संज्ञा पु० रूप ओकारान्त हैं, जिनके ब० व० विकारी रूपों में घाम्यौन, बाबौंन साम्यौंन जैसे रूपों का संकेत डा० चातक ने किया है। राजस्थानी में य विकारी रूप दुहरे पाए जाते हैं, साधारण रूप घामान अवधारणार्थक विशिष्ट रूप घामान्न काकान्न, भायान्न।

'राजस्थानी तथा गढवाली की अन्य समानता भविष्यदर्थ ल वाले प्रयोग हैं। राजस्थानी में गढवाली की तरह लो का कर्मवाच्य वाला रूप नहीं पाया जाता। दोनों भाषाओं में सहायक क्रिया छ पायी जाती है। भूतकालिक कृदन्त वाले रूप दोनों में यो (ब० व० या) प्रत्यय वाले पाये जाते हैं राज० गढ० चल्यो, गयो (ग्या)।'

इस साम्य से ग्रियर्सन के इस कथन का समर्थन नहीं होता कि गढवाली राजस्थानी की ही एक शाखा है। स्वयं ग्रियर्सन इस बात को स्वीकार किए बिना न रहे कि गढवाली अन्य पहाड़ी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी के निकट है। गढवाली और राजस्थानी में साम्य के जो आधार हैं वे मराठी, गुजराती, बंगला से भी सम्बन्धित हैं।

उदाहरण के लिए, छ क्रिया को लिया जा सकता है। यह क्रिया राजस्थानी के अतिरिक्त दरद बंगला और कई पूर्वी बोलियों में भी मिलती है। उसी प्रकार भूत और भविष्यत् काल का लो प्रत्यय मध्य पहाड़ी और राजस्थानी के अतिरिक्त भोजपुरी बंगला, असमी, उड़िया, मैथिली, मराठी, गुजराती में भी उपलब्ध है। सम्बन्ध कारक के रो, रा, री प्रत्यय गढवाली की रवाँल्टी बोली में भी मिलते हैं।

इसी तरह वे राजस्थानी में ही नहीं बंगला में भी मिलते हैं। न का ण (ण) जाना केवल गढ़वाली और राजस्थानी में ही सम्भव नहीं, अन्य भाषाओं में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। गढ़वाली की ळ ध्वनि राजस्थानी के समान अन्यत्र भी मिलती है। स का ह में परिवर्तन गढ़वाल के एक क्षेत्र विशेष में प्रचलित है किन्तु यह परिवर्तन पूर्वी बंगला, सिंधी, पंजाबी लहन्दा, असमी, मराठी और पश्चिमी हिन्दी में भी सम्भव है।

वास्तव में राजस्थानी का उद्गम जिस शौरसेनी अपभ्रंश में खोजा जाता है, उसी का एक पर्वतीय रूप मध्य पहाड़ी का स्रोत भी है। दूसरी बात यह है कि हूण नाग गुजर आदि जातियों के गहवास और प्रसार ने इन क्षेत्रों की भाषाओं को कुछ समानता प्रदान की है। किन्तु इसी आधार पर उन भाषाओं को एक दूसरे की शाखा कहना उनके साथ अन्याय करना होगा। अगर गुजर आदि राजपूत राजस्थानी का उपार्जित करने के पश्चात हिमालय में गए होते तब तो राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कोई मौलिक अन्तर न होना चाहिए था। फिर एक और प्रश्न उठता है कि अगर पहाड़ी की उत्पत्ति राजस्थानी बोलने वाले लोगों के हिमालय में प्रवेश करने के बाद हुई तो उस समय वहाँ के लोग कौन सी भाषा बोलते थे? और क्या राजस्थानी भाषी आगन्तुक इतने प्रभावशाली थे कि वे अपनी भाषा को वहाँ के मूल निवासियों पर थोप सकें? ग्रियर्सन ने सम्भवतः इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक नहीं समझा। पूर्वी पहाड़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए भी उन्होंने यही भूल की है। वे नेपाली के विकास को गोरखा-आक्रमण से सम्बद्ध मानते हैं जबकि सत्य यह है कि नेपाली का जन्म उससे बहुत पहले हो चुका था। इसी प्रकार इससे अधिक हास्यास्पद और कोई कल्पना नहीं हो सकती कि मुसलमानों के भय से मुसलमानी भाषा से राजपूत शरण के लिए पहाड़ों में चले आए और वहाँ बस गए। प्रश्न यह है कि भागकर आए हुए लोग (?) क्या इतनी बड़ी संख्या में आए थे कि वे किसी प्रदेश की भाषा को प्रभावित कर सकें? लोक परम्परा और इतिहास में इसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं।

मेरा तो यह विश्वास है कि छ (सहायक क्रिया) और ल (प्रत्ययुक्त क्रिया) वर्गीय भाषाएँ किसी समय अपने मूल में एक ही रही हैं अथवा वे किसी एक स्तर पर एक ही जाति (उदाहरणार्थ गुजर खस आदि) के लोगों और उनके प्रसार से सम्बन्धित रही हैं। *इस दृष्टि से मध्य पहाड़ी केवल राजस्थानी से ही नहीं*, वरन् गुजराती मराठी बंगला पंजाबी अवधी भोजपुरी आदि से भी थोड़ा बहुत ध्वन्यात्मक और रूपात्मक साम्य प्रकट करती है। किन्तु इस साम्य का कारण केवल यह नहीं है कि गुजरात महाराष्ट्र या पंजाब से आकर लोग मध्य पहाड़ी क्षेत्र में आकर बसे हैं वरन यह है कि सब सामान्य भाषीय तत्त्व सभी क्षेत्रों में भाषा के विकास के लिए समान रूप से सक्रिय रहे हैं। यही कारण है कि मध्य

पड़ता। एक ओर मागधी और अर्ध मागधी का साधारण प्रभाव दृष्टिगत होता है दूसरी ओर वह राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और हिन्दी अथवा उसकी बोलियों से निकट का सम्बन्ध निर्वाह करती दीखती है।

इसी सन्दर्भ में मध्य पहाड़ी और हिंदी के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र पर भी विचार कर लेना उचित होगा। हिन्दी के कुछ विद्वान् पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की बोलियों में नहीं गिनते। उनके अनुसार वे स्वतन्त्र विभाषाएं हैं और इसीलिए वे उन्हें हिंदी के प्रकृत क्षेत्र में मानने पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। इस तरह का बहिष्कार भाषा विज्ञान के नाम पर बिलकुल अनुचित ठहरता है। यदि इस तरह सोचने लगें तो खड़ी बोली तक ही हिन्दी सीमित रह जायगी और परिनिष्ठित हिन्दी और उसकी तथाकथित बहुत-सी बोलियों में सम्बन्ध-सूत्र निकालना कठिन हो जायगा। प्रश्न हो सकता है कि हिन्दी और ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि में कौन-सा सम्बन्ध-सूत्र है जिसके कारण उन्हें हिंदी की बोली और जिसके अभाव में पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की बोलियों से भिन्न कहा जाता है? पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी में कौन सा साम्य है? निश्चयतः भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वे भी परिनिष्ठित हिन्दी से उतनी ही स्वतन्त्र हैं जितनी कि पहाड़ी। सच यह है कि सम्बन्ध-सूत्र की खोज के लिए केवल भाषा-वैज्ञानिक आधार ही पर्याप्त नहीं है। भाषा वैज्ञानिक आधार के अतिरिक्त सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय एकता तथा साहित्य के प्रयोग की भाषा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। हिंदी पहाड़ी क्षेत्रों के साहित्य की भाषा है। मध्यकाल में यह गौरव ब्रजभाषा को प्राप्त था। इसीलिए गढ़वाल के सुप्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम ने ब्रज में ही काव्य रचना की थी। आज भी गढ़वाल के घर घर में हिन्दी बोली और समझी जाती है। एकता का दूसरा सूत्र सांस्कृतिक पहलू है। हिमालय सदा से मध्यदेश की सांस्कृतिक चेतना से समन्वित रहा है। इसीलिए जब हम 'हिंदी' नाम लेते हैं तो ब्रज, बुंदेली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मालवी, गढ़वाली, कुमाऊँनी आदि अनेक बोलियों का ध्यान स्वतः ही हो जाता है।

वस्तुतः गढ़वाली हिन्दी के बहुत निकट है। वर्षों पहले कैलाग ने इस तथ्य को स्वीकार किया था।[1] भंडारकर आदि भी गढ़वाली को 'पहाड़ी हिंदी' मानते हैं। स्वयं ग्रियर्सन ने उसे हिन्दी से सम्बन्धित माना है।[2] यह सत्य है कि गढ़वाली आदि मध्य पहाड़ी की विभाषाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो हिन्दी तथा उसकी विभाषाओं में नहीं मिलतीं किन्तु फिर भी समानमूल के कारण वे हिन्दी के बहुत निकट की बहनें हैं।

---

१ कैलॉग : ग्रैमर ऑव द हिन्दी लैंग्वेज, पृष्ठ ६६।
२ लि० स० इ०, जि० ६, भाग ४, पृष्ठ ३८१।

शब्दकोष

यह सभी बोलियों और भाषाओं के लिए सत्य है कि उनमें शब्द कई द्वारों से प्रवेश करते हैं। जहाँ तक गढ़वाली बोली का सम्बन्ध है, उसके लिए यह कथन और भी सार्थक है क्योंकि गढ़वाल में अनेक जातियों का आवास रहा है, जिन्होंने समय-समय पर प्रवेश कर गढ़वाली को अपना शब्द समूह प्रदान किया है। राजनैतिक सम्पर्क ने भी कुछ नये शब्द प्रदान किए। इस दृष्टि से गढ़वाली बोली का शब्द समूह निम्नलिखित स्रोतों से सम्बन्धित है और उसका स्थूल विभाजन इस प्रकार सम्भव है

(क) तत्सम शब्द
(ख) तद्भव शब्द
(ग) अनार्य भाषाओं के शब्द
(घ) आधुनिक बोलियों से उधार लिए हुए शब्द
(ङ) देशज शब्द
(च) विदेशी शब्द

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त इन शब्दों को गढ़वाली बोली ने अपने ध्वनि और रूप तत्त्व के अनुकूल इस प्रकार पचा लिया है कि वे अब उसी के बन गए हैं। संस्कृत अरबी फारसी तथा अंग्रेजी शब्द इस प्रकार गढ़वाली की प्रकृति में ढले मिलते हैं कि वे विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। यहाँ तक कि कई संस्कृत शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन ही नहीं हुए वरन उनमें अर्थ परिवर्तन के भी मनोरंजक दृष्टान्त मिलते हैं।

गढ़वाली में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द अधिक हैं। फिर भी उसमें असीमित तत्सम और अर्ध तत्सम शब्द मिलते हैं। उन सबका विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। यहाँ कुछ विशिष्ट शब्दों को ही लिया जा रहा है।

आकाश के अर्थ में प्रयुक्त संस्कृत खो शब्द गढ़वाली में ज्यों का त्यों प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द इस प्रकार हैं अन्न अर्थ, अवस्था अस्त अति आतुर, आचार, आयु, आकाश, इति, इष्ट, उदार, उत्पात, उदय, उत्तम, ऋतु ऋण, एकान्त कति, कर्म, कन्या, कथा, कृपा क्रिया, कठ कण, काया, काल कुण्ड, कल्याण, कुल, कषाय, कोण, कुशल, कुक्कुर, खड,

गीत, गोत्र, गौ, गुप्त, गति, घान, चिता, चरण, चूर्ण, छन्द छाया, छवि, जन्तु, जन, जातक, जार, तस्कर, तल, तन, तप, तरुण, तीप, तण, त्रास देन, दुष्ट, दशा, द्वि दया, देह दिशा, दव, धार, धम धातु नित्य, नीति न्याय, निद्रा नाग, प्रनीति, पशु प्रताप, पापड, पवत, पित पथ, प्रेत, पुण्य पोष, प्रयाण, पातक, फल, फेन, भाड, मान, मास, मन्द, मध्यम मन्त्र मति, मौन, मृत्यु, मुख, मूढ, माया, मण्डप, मूर्ति, मूल रोप, रेखा, रुचि, रोम, राशि, लख लीला, लोक, लेश, व्यथा, वास्तुक, वासना, विचार, बाधा, शील, शीश, शूल श्याली, सन्देह, सामर्थ्य, हवन, हत्या, ज्ञान आदि।

कुछ शब्दों के मूल अर्थ अन्य बोलियों म दूसरे रूपों म विकसित हुए हैं किन्तु गढवाली मे ऐसे कई शब्द अपने मूल संस्कृत अर्थ को सुरक्षित रखे हैं। उदाहरण के लिए रवाँल्टी म प्रयुक्त घीण <घृणा शब्द को लिया जा सकता है जो आज भी रवाइ मे अपने मूल संस्कृत अर्थ (दया) म प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत के 'उत्तर' शब्द को लिया जा सकता है। यह शब्द संस्कृत म उद (ऊपर) में तर प्रत्यय लगाकर ऊपर का अथवा 'अधिक ऊचा' अर्थ व्यक्त करता है। अनेक अर्थों म इसका एक अर्थ अधिक अच्छा भी होता है। गढवाली म यह शब्द इस अप्रचलित अर्थ मे भी प्रचलित है, जसे, तू मैं से उतर होली स्या राड होया—जो मुझसे अधिक (सुन्दर) बढकर नहीं। जु मैं से उतर होली स्या राड होया—जो मुझसे अधिक (सुन्दर) हो, वह विधवा हो जाए। खार द्रोण, प्रस्थ आदि पुराने माप थे जो वैदिककाल म भी प्रचलित थे। गढवाली म य खार दोण पाथो और माणो (< मान) रूप में प्रयुक्त होते हैं। तुला के लिए तूळ शब्द प्रयोग म आता है। संख्या सम्बन्धी शब्दों म एक, द्वि दश (एग्यार म एकादश का ए सुरक्षित मिलता है) कति क्षति, यति (जति) ज्यो के त्यो प्रयुक्त होते हैं। काल-सूचक शब्दों मे परारि पोर (परुत), जुग (युग) परसे (परश्व) उल्लेखनीय हैं। नात रिश्त की व्यक्त करने वाले सभी शब्द संस्कृत के अनुरूप तत्सम या तद्भव रूप म मिलते हैं। इस दृष्टि से आवत शब्द विचारणीय है जो गढवाली म संस्कृत आवृत्त से भिन्न नहीं है। हुडका गढवाल का सुप्रसिद्ध वाद्य है और चाचर या चाछड एक लोकप्रिय नृत्य। संस्कृत म इनके लिए हुडक्क और चचरी या चर्चरी शब्द उपलब्ध होते हैं। संस्कृत मे छन्द शब्द इच्छात्मक भाव को व्यक्त करता है किन्तु गढवाली म उसको अवसर की अनुकूलता के अर्थ म प्रयुक्त किया जाता है। गड का संस्कृत में अर्थ होता है—द्रव रूप में बहना। सम्भवत इसी कारण गढवाली में नदी को गाड कहते हैं। इसी प्रकार खेती पाती और पशु पालन सम्बन्धी कुछ शब्द लीजिए साट्टी पाष्टिक साठ दिन म पकने वाला धान, कोदो कोद्रव पराळ पलाल, पुडू पुड, बुसो बुस, आदो आद्रक, दामडो दाम्न, शाण छाण गढवाली—छागभात, संस्कृत छाग बकरी भात भक्त, भड भेड, खील खिल—कास्त न की गई जमीन, गति अथवा

गडि (आलसी और मजबूत बैल गढ० गनिया, गळ्या), कुटलो कुद्दालक, कडे कडोल तारळो तन्तु, कीलो कीलक, कूल कुल्या, खाळ खल्ल, गुवर, ग्वर गुहेर, सुप्पो सूप, पट्का पटक पडालो प्रणाली, कथा, चोखू चोन, मूसो मूष, अगन्याळ आरग्वधर आदि।

तद्भव शब्द

गढवाली में तत्सम, अर्धतत्सम शब्दों के समान ही तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। आगे के ध्वनि विचार सम्बन्धी अध्यायों में ध्वनियों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में तद्भवों की विस्तृत सामग्री उपयोग में लायी गई है। यहाँ केवल कुछ ऐसे तद्भव दिए जा रहे हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है।

अन्यत्र > अण्य, अङ्कुर > अगरो, अरण्य > रण, आरुणी, अग्रे > आगे, अभिमन्थ > औंधा, जटाट > अखोड, अमित > अमिथ्या, अहगण > हरगण, अनुसार > अन्वार, अगता > आगळ, अश्माल > अम्वाळ, अपुनक > औनो, अञ्चल > ऐंचळू, अट्टालिका > अटाली, आत्तव > थाल, आया > इजा, जिया, जी, आवन > औन, उत्तान > उताणू, उल्लंघन > अललण, उनिद्र > उणदो, उच्च > उच्चो, उत्वेर > उवेर, उच्छ्वास > उकसासी, उद्दीपन > उर्यो, उलूतल > उरख्यालू, ऋक्ष > रिक्क।

कीनर > कीला, कुडल > मुडाली, कुल्या > कूल, करपवत > फलेऊ, कलि > कौली, कोड > कोळ, कल्याहार > कल्यार, कुचिका > कजी, कुहेलिका > कुरडी, मोनानाति > कूजाणी, कुठिन > सुडा, कृति > कतळा, कल्यवर्त > कलेऊ, पाष्ठक > काठणो, कुटी > कूडी, कर्णद्वार > कद्दूड, कठमाला > कठ्यालो, कोष्ठागार > कोठार, कनीयस > काणसो, कूच > कुच्चा, कठ > कोठो, कुमयट > कुखडो, कुक्षि > काख, कर्णधार > धुनार, कुन्त > कोळ, कुब्ज > कूजा, हलि > फलहा, रम्य > फास, स्थानस्थान > खल्याण, ग्रन्थि > गाँठ, गोष्ठ > गोठ, गुल्म > गग्गा, गोविष्टय > ग्वीडो, गोस्वामी > गोस्य, गजर > गजार, गगर > गागर, माहङ्ग > गरर, धूर > धुग्गू, घुटन > घुडो, घरट्ट, घट्ट > घट्ट।

चत्वारिंश > चौंरी, चतुष्क > चौक, चाग > चाखु, चीपर > चाणा, चिरा पित्त > रिरैलू, छत्वर > छप्पर, छाद्य > छाजा, घाना > भन, जना > भणा, जीवन > ज्यूणा, नीर > जूर, जान्य > जा, जमीर > जैमर, जिस्वर > जितार।

तुम्ब > तोमड़ा, तप्त > ताता, माप > ता, तिथि > तीथ, तपा > तीस, तुम्बल > तुम्ला, दारिद्रा > गाथा, दम > नावा, दाडिम अथवा दाडिम > दालिमो, द्रोण > दाण, देहला > डैना, दुत्र > धन, तुम्बा > थ्याग, दरम्र > दरदरो, धावपृष्ठ > धावडूर, धम्मिल > धमलौ, न नहि > निनर, नष्ट > नाटो, नास्ति > नाति, निमित्त > निम्न, ननाह > नाँ, नवनीत > नौण, नौणी > य, नन्दिनी, नन्दनी >

नौनी, नवान्न > नवाण नगर > नल > नारा। नकुली नुपूर > यूरी निम्हुर > निमी, नेष्ट > नष्टी, निस्तार > निस्तारा।

प्रवाल > पौला प्रस्थ > पाथो, प्राहृत > पता, प्रकृति > पाका, पियक > पीना प्राघुण > पौपा पुटक > पुडग, प्रणाली > पडाली, पट्ट > पाट पटक > पट्टगा पिष्टान्न > पिनान। परस्व > परम, पन्म > पैंय्या परारि > परार पदन > पोर, प्रालय > पाळा पलाल > पराळ प्रकाण्ड > पासडा, पत्रक > पातगो पक्ष > पाखो प्रन्गन > प्रणा पन्याण > पन्याण प्राकार > पगार, पपक > पारी पन्चरात्रि > पनरात पाश > फासु पिह > पीडा भयवला > भान भूमि > भुइ भृत्य > भुर्त्या, भक्त > भात मानवधू > भौ बौ भातजाया > भौन मारिप > मारछो, मान > माणो, मुद्रा > मुदडो मह > माड, मसि > मासा मुद्गर > मुगरो, मारिका मारी या मधुकरी > म्वारी मस्तक > मथे।

यन्न > यत्थ, यन्त्र > जातो जान्दा यक्ष > जाख, यष्टि > छट्टी लठ्ठा। यमल > जौंल्या, यानि > जान युवती > जाई याक्त > जोता यवनाल > जानला यमराज > ज्यूरा रुद्र > रुड रमणी > रण रुपमि > रुप्पी रहस > रौंस। लोहित > लोह लाला > लाळो, लिप्सक > लिच्चड लवण > लोण, लसीका > लीसू, लिक्षा > लीखा लसक, लग्न > लीगा, बलावद > बल्द वधू > बौऊ, बलयकार > बलार, विस, विष्ट > विटट, विगुप्त + न या विपममाण > विसूण विसकूण वठ > वड बनजीर > मगजीर, विम्मण > ब्याम्न विकाल या विगतवला > ब्याले, वात > बथौं वणिज > वणज, व्यक्ति > बस, वल्कल > बक्कल, विमान > ब्याणो वाट > बाट, शाल > सिल्ला, शल्य > सल्ल, शेप > छिपा- शीतल > सळू शरीर > शरील, शुचि > सूच स्वामिनी > स्वैण शिखाण > सिंगाणू सिंह > सिंऊ स्थूप > थुप—डा सीमा > स्यू सद्य > सद्यो, स्यात > सैंत सकाण > सागडो सुरा > सूर सपुट > सापुडो सरिसप > सरसू सौवानी > स्यणी स्तोक > थाक, स्थीर > थार + डा स्लिमित > तीदो हिंसा > हींस क्षत्रपाल > छिनरपाल क्षार > खारा, रक्षा > राखो, क्षुधा > छुधा, क्षुध > छूड।

ये कुछ ही तद्भव शब्द हैं। हिन्दी में प्रयुक्त अधिकांश तद्भव शब्द गढ़वाली में भी प्रयुक्त होते हैं। उन्हें यहाँ सम्मिलित नहीं किया गया है। आगे ध्वनि और रूप तत्त्व पर विचार करते हुए गढ़वाली में व्यवहृत अन्य तद्भव शब्दों से परिचित होने का भी अवसर मिलेगा। तब यह अनुमान लगाना सरल होगा कि गढ़वाली में संस्कृत की शब्दावली कितनी महत्त्वपूर्ण है। इन तद्भव शब्दों की तुलना प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों से करने पर आश्चर्यजनक समता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए प्राकृत और अपभ्रंश के निम्नलिखित शब्दों को लिया जा सकता है

प्रा० उत्तम उद्ध गढ़वाला उद्धो इस्सा गढ़ रिस्सा या राष इसि इसि इस्सेली

अज्जू अज्जी, जी, जिया, इजा अल्ल, ओल्ल>आद्य म गढ़० आलो, जइ (ज< यदा), तइ (त तदा), गस्थ गरो मउलइ मौलणो, सुविण सिविणो, स्वीणो, घरओल (गहगोली) घिराली, णत्थि नाथि छूटा, छुहिय (सुघा>छोई), शअल शकर नेंल कत्ति वृत्ति कतडा, जोण्हा (ज्योत्स्ना>जोन), णेउरम नूरी, भडो (भड< भट) देउलम् दूल, अग्गी आगो, चूल (चूळा—पहाड की चोटी चूली, जमे पव चूली), गाहा (गा गा करणा), जक्खो जाख, तलाअ तलौं, दिट्ठी डीट, डिट्ठि, धम्मिल धमेली, धीआ धिया भत्तारा भतार, मउड (मौड<मुकुट), राउ रौ, सहोअर सो रो जोई<युवती विहा ब्याणू माणसो मणस, रण्ण रण, राउल रौळ रिद्धो रीदो सुत्तो सुत्तो, सीहोस्यू अच्छरा आछरी, सभो सामो छइल छल नवल्लो नौलो उवी उम्मी वडच्छू करछुलो कल्होडा खल्ला चउक चौक, जोण्हा लिया ज्वण्डला, मवरी भमोरा, डलो, ताँत, पणाल पडालो वहुडि बौडि सुहाली स्वाळी, हट्ट हाट सण सणी, चवक्कल चौक्सो कइव, काव दवावर देसोर अवत्तो मौत, वग्गे खाडो, अज्ज अजु अभेज्जा अभींज<अविद्या, खाल खाळ, खुद=पुद<क्षुद, जुत्य<जोंट<यूथ, चग चगो, फलट हलड, डिट्ठी डीट, दुहिय धीया<दुहिता मरथ माठो<मट्ट मायडी (मायरी>मात)। गज्जर गजार चडअ घडो, छुच्छु चुचो, जोइअ जोई थोक्क थोक, धम्मिया धामी, पाहुणअ पौणो घुक्क घुक्री, वोक्कस वोक्सो, वोक्कड बोगठ्या, भिट्टा भिट्टो भोलइ भोळ, मट्ठ माठो, लट्ठिआ लट्ठी, लुकइ लुकणु लुवइ लूछणू वग्ग आगो, वट्ट वाटो, बिआ अइ ब्याणू वियानो ब्याले सन्ना सान आदि।

वस्तुत भारतीय आर्यभाषा के मध्यकालीन विकास की लक्षण परम्पराएं गढ़वाली म ज्यों की त्यों सुरक्षित मिलती हैं। यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश की ध्वनि और शब्द रूपों के समीकरण और ध्वनिलोप आदि की प्रवृत्ति आधुनिक गढ़वाली मे अधिक नहीं फिर भी इस प्रकार के लक्षणों को अनेक शब्द रूपों मे देखा जा सकता है।

अनार्य भाषाओं के शब्द

यह पीछे कहा जा चुका है कि प्रागैतिहासिक युग म गढ़वाल कोल भील किरात यक्ष, नाग खस आदि जातियों से सम्बन्धित रहा है। इनम कई जातियाँ आग्नेय थी। गढ़वाल के रवाँई प्रान्त म हरिजनो की एक जाति कोल+टा कहलाती है। उसी प्रकार भिलंगना नाम भील जाति की ओर संकेत करता है। केदारखंड म भी हिमालय म भीलों का उल्लेख किया गया है।[1] बेडा भीलों की एक जाति है। गढ़वाल म बेडा जाति के लोग आज भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त

[1] केदारखंड केदारखंड अध्याय २०६।

गढ़वाली वीर गीतों में मालों का उल्लेख वीर पुरुषों के रूप में आता है। यह शब्द मूल रूप में मल्ल है। मल्लों का उल्लेख हमें बौद्धकाल में मिलता है। वे सम्भवतः शाक्य और मूलतः कोल या मुण्ड वंश के थे।[1] कहा जाता है कि आर्यों के आक्रमण के पूर्व यह जाति उत्तर भारत में गंगा जमुना के दोआब और हिमालय प्रदेश में निवास करती थी।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि आग्नेय लोगों ने आदिम कृषि प्रणाली को विकसित किया था। खोदने की लकड़ी के लिए उन्होंने लग, लङ, लिङ शब्दों का आविष्कार किया था। संस्कृत में हल के लिए लांगल शब्द का प्रयोग होता है। गढ़वाली में इसी अर्थ में एक संयुक्त शब्द हल-नागल तथा लुगना शब्द प्रचलित है। अन्य आग्नेय मूल वाले शब्दों में कपाळ (मुंडा कपार मोनख्मेर कपाल) बड़ो (मुंडा बाड़ा) बोई बई (मुंडा बाइर) भैंटणू, भेरू (आग्नेय भेरो), लिंग, लाग, मामळा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आग्नेय जाति पंजाब और हिमालय तक फैली थी और नदियों की उपत्यका में रहती थी। नदियों के लिए गंगा शब्द का प्रयोग इन्हीं की देन है। गढ़वाल में अनेक गंगाएँ हैं और वहाँ यह एक नदी वाचक शब्द मात्र है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये आर्यों के भय से पहाड़ों की ओर भाग होंगे। इसीलिए आग्नेय बोलियाँ हिमालय के सहारे सहारे पश्चिमोत्तर तक फैलीं।[2]

इनके अतिरिक्त दूसरी जातियों में किरात बहुत प्रमुख रहे हैं। 'कुमारसम्भव' में उनका उल्लेख हिमालय के निवासियों के रूप में हुआ है। महाभारत में भी हिमालय को किरात, तंगण, कुलिन्द आदि का आवास बताया गया है।[3] इनका रंग पीला होता था। आज भी रवाईं क्षेत्र में बहुत से लोग इस रंग के दिखाई देते हैं। भारत का उत्तर पूर्व इनका मूल स्थान था। बाद में ये कुमाऊँ, गढ़वाल, नेपाल में तो फैले ही इसके अतिरिक्त सुदूर बंगाल और बिहार तक भी जा पहुँचे। इन्होंने भारतीय आर्यभाषा और संस्कृति को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। ये भोट चीन नाट श्रेणी की भाषा बोलते थे। गढ़वाल के सीमान्त पर आज भी भोटिए बसे हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरकाशी का अभिलेख भी तिब्बती सम्पर्क का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

गढ़वाली की कुछ बोलियों पर किरात प्रभाव विद्यमान है। कुछ भागों में जो हिमाचल प्रदेश और जौनसार बावर के समीप पड़ते हैं, च वर्ग का दन्त्य स्पर्श संघर्षी उच्चारण मिलता है जो इन्हीं का प्रभाव है। इसी प्रकार गढ़वाली में पूर्वकालिक कृदन्त का अधिक प्रयोग भी उसी प्रभाव को प्रकट करता है। यही नहीं,

1 ई० जे० रॉनल्ड का [illegible] हिन्दू सभ्यता पृ० २३२।
2 डॉ० चाटुर्ज्या: भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ५३।
3 महाभारत वनपर्व, अध्याय १४०।

कई गढ़वाली शब्द किरात मूल से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, भाई के अर्थ में प्रयुक्त गढ़वाली शब्द दा, दिदा, दादू लिया जा सकता है। उसी प्रकार छोटे भाई के लिए गढ़वाली भुला शब्द किरात भाषा में भो लो, या लुरूप में उपलब्ध होता है।

अनार्यों में द्रविड़ सबसे अधिक प्रभावशाली थे। द्रविड़ भी उत्तर पश्चिम से आए थे।[1] हड़प्पा और मोहनजोदड़ो आज भी उनकी स्वर्णिम सभ्यता की ओर इंगित करते हैं। हिमालय से ये लोग सहसा अपरिचित न थे। दिवोदास और सुदास ने जिस शम्बर असुर से लोहा लेना पड़ा था, वह द्रविड़ या किरात ही रहा होगा। गढ़वाली में कई द्रविड़ शब्द विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए पट के अर्थ में प्रयुक्त पोटगो शब्द लिया जा सकता है। संस्कृत में पटिका प्राकृत तथा तेलगु में यह पोट्ट रूप में मिलता है। इसी तरह कठण, मरिच (मर्च) कज्यालो (कज्जल) कठ (गढ़० काठो, कठ), कणसा (कनक), कुटि (कूडी), छानी (तमिल चानी), उलूखल भी द्रविड़ शब्द हैं।

इसी प्रकार गढ़वाली में माँ के अर्थ में प्रयुक्त ब बई या बाइ शब्द का संस्कृत अम्बा से व्युत्पन्न माना जा सकता है किन्तु यह कन्नडी बावे, तथा द्रविड़ अव्व (संबोधन में अव्वो) के अधिक निकट प्रतीत होता है।

कुछ अन्य शब्द इस प्रकार हैं बूटणू कालो उरख्याल भड़ी वेलो गाजळ हलुको खाब आदि। पिता के लिए प्रयुक्त गढ़वाली शब्द बाबा मुण्डा में बाबा, बा तिब्बती बर्मी में बोप्पा बोबा, ओरॉव में बाबा बाहुई में बावा रूप में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार, गढ़० बोगठ्या (बकरा) तिब्बती बर्मी बोकरस ओरॉव द्रविड़ बोकरा एडा, गोंड बोकरास, कन्नडी बोक्डो, गढ़० बई, इसे द्रविड़ कोलमी के गढ़० ठोंट (चोंच) कन्नडी खानड़ी टाड गढ़० कूडो, कूडो, मलयालम कूडी तमिल कुरे, गढ़० काळो कनारी काड़ू, तेलुगु नर, गोंड कोस्सो, आदि।

इन अनार्य जातियों ने प्राचीन आर्यभाषा को किस रूप में प्रभावित किया इस विषय का अध्ययन विद्वानों द्वारा हो चुका है।[2]

टी० बरो ने अपनी पुस्तक संस्कृत लैंग्वेज और विटेल ने 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' में ऐसे अनेक शब्द दिए हैं जो अनार्य भाषाओं से संस्कृत में प्रविष्ट हुए हैं। उनमें से कई गढ़वाली में भी विद्यमान हैं। सम्भव है ये गढ़वाली में प्राचीन और मध्यकालीन आर्यभाषा के माध्यम से आए हों। किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि उसमें ऐसे भी अनेक अनार्य शब्द सम्मिलित हुए हों जो केवल गढ़वाली आदि पहाड़ी बोलियों में ही रह गये हों। ऐसे शब्दों [redacted] अभी अध्ययन होना शेष है।

---

१ डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता : पृ० ४१।
२ —द्र० भा० भाषाशास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०८।

आधुनिक बोलियो से उधार लिए शब्द

उधार लिए हुए शब्दों से हमारा तात्पर्य उन अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के शब्दों से है जो ऐतिहासिक कारणों से गढ़वाली में सम्मिलित हुए हैं। बद्रीनाथ और केदारनाथ, गंगोत्री और यमनोत्री, रुपकुंड और हेमकुंड की यात्रा करने जाने वालों में असंख्य जन भारत के विभिन्न भागों से आते रहे हैं। इन यात्रियों के सम्पर्क ने गढ़वालीका अनेक शब्द दिए हैं। गढ़वाल के लोग आजीविका के लिए बाहर जाकर भी अनेक शब्द लेकर आते हैं। हिन्दी की शब्दावली इसीलिए गढ़वाली के लिए अपरिचित नहीं है। इससे भी पूर्व यह बात विचारणीय है कि राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों से गढ़वाल किसी-न किसी रूप से सम्बन्धित रहा है। राजस्थान और गढ़वाल का यह सम्बन्ध भाषा विकास के किस स्तर पर रहा है यह कहना कठिन है। जैसा कि कहा जाता है मुसलमानों के भय से राजपूत हिमालय की ओर भागे हैं यदि यह सत्य है तो यह सम्पर्क मध्यकालीन ठहरता है। वैसे भी गढ़वाल का पँवार वंश स्पष्टतः राजस्थान अथवा गुजरात से सम्बन्धित था। इस स्थिति में भाषा पर कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस स्तर पर राजस्थानी और गढ़वाली के साम्य की बात की जाती है पर यह साम्य वास्तव में प्रथम अवस्था का साम्य है जब राजस्थान में फैलने से पूर्व गुर्जर हिमालय में थे और वे एक ऐसी भाषा बोल रहे थे जिसे वे राजस्थान ले गए।

उसी प्रकार ब्रजभाषा से गढ़वाली का लगाव होना दूर के एक ही मूल के कारण स्वाभाविक है। इससे भी अधिक ब्रजभाषा का व्यक्तित्व बहुत विराट रहा है। एक युग में वह उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा और राष्ट्रभाषा रही है। गढ़वाल भी उससे अपरिचित न था। गढ़वाली कवि मोलाराम (१७४३-१८३२) ने अपने काव्य की रचना ब्रज में ही की थी। इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि एक बार लोक-गीतों का संग्रह करते हुए जब मैं रवाई पहुँचा तो एक बुढ़िया ने, जिसने और जिसके पूर्वजों ने कभी अपने गाँव से बाहर पैर न रखा था मुझे कई ऐसे गीत सुनाए जिनकी भाषा ब्रज थी। बाद में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रज की अपनी एक प्रसार-परम्परा थी और उसका क्षेत्र कभी सुदूर हिमालय तक भी रहा होगा।

ब्रज और गढ़वाली में प्रयुक्त कुछ समान शब्द यहाँ दिए जा रहे हैं

अजिया—गढ़० बो, जिया आडजी—जनाद्य>प्रा० अजाउज्ज>आउज्ज >आउज ब्र० आउफ आवफ गढ़० औजी—ढोल बजाने वाला कलार कल्हाडो<कल्या चन्दि सर्क सूनर गुइराल कमारी कमोठी जवरी ज्यूडो दावरा दौंठी सुरति सुता, बरवानी, सगा, सगुलो, पात+डा, सूलरा बुलाकु, खगवारो खवालो, हँसुलो, पहुँचा, मुदरी, मुरकी कलेऊ, ...

पिहारू पिडाळू, भटा भट्टा < वग, छाक, मरसा मार्छो, नवनी नौणो, अन्दरसा अर्सा, महर, खाळ, साहिलो स्वोलडो, मुलकडो, पतौरा पत्यूड, म्हौचग मोछग पटुका पटुगा, पेप, जोन्ह जोन < ज्योत्स्ना, हौंस, अववार अग्वाल < अकमाल, ठाडो ठाडो, ठाव ठौं, भौंह सौं खोरी खोळी, ठौर, बिरानो, भयाणो, सयानो, भोर भोळ, वानि बाण, बानक, भातरु, नेरे नेड, सरि सम्रॅर, सन सान, पबेर, कलेउ नत नेतण, ओछा होछो, जायो अनत मण्य < अन्यत्र, निसान निसाण डासन डिस्याण, साल (गढ० इस के अर्थ में) हेत, धौरी धौळो, रतनारी रतयाळी, पौरि पडी, फडी, आदि।

गढवाली की बिसरणू भाजणू बाँचणू पत्याणू, मुचौणू भेंटणू, गाडणू (ब्रज० काटरो), मीडण आदि कई क्रियाएं ऐसी हैं जो हिन्दी की अपेक्षा ब्रज में अधिक प्रयुक्त होती है। संज्ञा और क्रिया रूपों ओकार की बहुलता और ध्वनियों के विकास की दृष्टि से ब्रज और मध्य पहाडी में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। आगे के पृष्ठों में यथास्थान उसका उल्लेख किया गया है।

ब्रज के समान ही अवधी आदि से भी गढवाली का हलका लगाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिए अवधी और गढवाली के ये शब्द लिये जा सकते हैं

अउल गढ० औल, अजुग्गि, अजुगति अजगती, अबहु अबू अबौं, अनुहारि अन्वारी, उकाई, उघार उघाडो, कलोरि कल्होडी ओबरी, कउली कौली कवरा कवरेणो खउरा खौडो, खप खवार खवार, गबरू, गपफा, गलवा गळ्वा गातो, गुठ्ठी गट्ठी गल घाटी घान घाण, जोई, झालि झल्ल, झुर, झुलवा झुल्ला, झगुला, डाँगर, टोंच टिचन, थोक, दवाइ दाइ, दथ, धराऊ, नाउ माम्येंनो, पट्टी, पतुरिया पातर, पयलउठी पलोठी, पसभेती, पँवारा पवाडा, पाग, पितरोप, पीठो, पिसान, फगुनहर फगुणटो, फाँट, फांड, बखार बक्सर, बटुला बठुळो, भटा भट्टा, भउरा भूरी, मवजा मौजा, लहुरा लौळा लउरी खौली सदरी, सँत, सोहारी स्वाळी आदि।

कुछ क्रियाएं भी गढवाली और अवधी में समान रूप से मिलती हैं किन्तु खड़ी बोली में जिनका प्रयोग नहीं होता

निबरद—गढ० निबडणू भुट्ट भुटणू सनकारब सनकौणू बुकाइब बुकाणू सोपना सोपणू (रचना)।

इस प्रसंग में दरद का उल्लेख भी हो जाना आवश्यक है। गढ़वाली में दरद भाषाओं के अनुकूल ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं होते हैं। फिर भी दरद शब्दों का गढ़वाली में पाया जाना जौनसारी तथा अन्य पश्चिमी पहाडी बोलियों के माध्यम से प्रवेश करना सम्भव है।

वास्तव में गढवाली पर दरद प्रभाव की बात कुछ बढा चढाकर की जाती है। इस सम्बन्ध में दरद भाषाओं के शब्दों के जो उदाहरण दिए जाते हैं, वे मूलतः

संस्कृत के शब्द होते हैं स्वयं के अपने शब्द नहीं। इसलिए इन्हें मूलतः दरद शब्द कहना अनुचित होगा। गढ़वाली में दरद मूल वाले शब्दों का बाहुल्य नहीं है। इस प्रकार के कुछ शब्द अवश्य मिलते हैं, जैसे—गढ़० डाडा (शिना डागू, काश्मीरी डोनउ), गढ़० ब्याटे (दरद ब्यान, शिना ब्याले), गढ़० हिटणू (काश्मीरी हुडन), गढ़० सुडा (शिना सूडा), गढ़० हुडेरो (काश्मीरी होंडू), गढ़० काठो (शिना कन) आदि, किन्तु इनका भी दरद मूल संदिग्ध है क्योंकि संस्कृत इट विकार हुआ, कठ आदि से इनकी व्युत्पत्ति निर्धारित की जा सकती है।

गुजराती, मराठी, पंजाबी और बांग्ला के भी बहुत से शब्द गढ़वाली में विद्यमान हैं। जहाँ तक पंजाबी और गढ़वाली का सम्बन्ध है गढ़वाली में पंजाबी की भांति घोषमहाप्राण परिवर्तन नहीं होते किन्तु कई क्रिया-रूप तथा शब्द रूप एक-दूसरे से मेल खाते हैं। ग्रियर्सन ने जिस तरह गढ़वाली को राजस्थानी की एक शाखा कहा है उसी तरह पंजाबी को भी उन्होंने राजस्थानी में मिला डाला है।[1] यह कथन भ्रान्तिपूर्ण अवश्य है किन्तु इनके बाहरी क्षेत्र की आधुनिक भाषाओं के साथ गढ़वाली पंजाबी, राजस्थानी आदि की स्थिति और उनके शब्द-समूह की थोड़ी बहुत एकता ध्वनित होती है।

तुलना के लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं और गढ़वाली के शब्द साथ प्रस्तुत किए जा रहे हैं

राजस्थानी

अठे, गढ़० यौथा (<अनुसर), आठ (<आला) अछाणो ओंग मगाळा मलिलो, मजू मने आपर गढ़० मपन्या मठरी, भारी भाट थावट गढ़० थौर जावणा-जावणा गढ़० (कब्जा) काकडो, माइयद, माला उरडा उला भीभाणा उम गढ़० उम एकनाई गढ़० एकणा जाळ गढ़० भाणो कपाटी कपोडा, दूर कनरो, कनि कडो कनेडो काला काई (कना), काढी कानी गढ़० कांनो किनाडो गढ़० कनोडा, कई (किनन ही) कुडी गढ़० कोडो काट, कोठार कैंकार गढ़० गराट खठरा खाड खाड खुनन गढ़० खुनन खुगाळी गढ़० खग्वाळा गल घट्टा गढ़० घट्ट, खाचो, करडा, धरवानो, आदि।

कुछ समान क्रियाएं इस प्रकार हैं

रा० जाअडो—टाकन का भाव गढ़० अडीणू टोकना डाटने के अर्थ में, दाटकणा गढ़० जटकणो, उकटणा मठेणू खिटणो गढ़० खिटकणू सूनणा गढ़० सानणू, सडीणू घोकणू, घोटणो आदि।

---

[1] लिंग्वि० 'हिन्द-आर्यन परिवार', पृ० ?, जि० मु० इ० का 'राजस्थानी'।

पंजाबी

अक्करा—गढ़० अक्करो, अगत अगेतो, अणखी अणखु, अल्लण आलण, आडबंद, उम्म उम्मो, ओखा, उहला ओलो, उलारा उलार, औट सौड, सरस (अधिक), सरहांदी सिरोंडी, साडा कौली, कद कदि, कक, कारी कुनाल कुडाळो खप्प (गढ़० खपतोळ्या—खपतोळो) खफगी, खाळ, खचल गजी गाजी, गपफा, गभरू, गोटी गुमटी, गुड़गुडी, गल गोट्टा गोंसा, गोल चौपड़, छोहरा छोहरो जीजू जिज्जू, जुल्ल झुल्ला, जेउडी, झलस भुनना, छुलका, टक्क, टप्परा (गढ़० टिंडा टपडा), टरड टाणस, टुडा डुडो टूल टोर्मोल ठुणा ठूणा, डब्बू, डभखा डोंडा डोंडो, डाम तौलो तलमठी थोथर थोबडू थुमको थौ दगल, दाऊँ, धौण धडा (गढ़० धन्ना या धडाई पहणू) धिपाण धूडा पछता पडा बनडा बरी बरो, बाजडा बालख्या बाळी, महेडू मगर मजल, माडा री, खोर म्योड, लीर, चिपला चिपळो।

कुछ सामान्य रूप से प्रयुक्त क्रियाएं ये हैं

सटरणा, नशणा, मथणा, सतणा, थथणा घरसणा गढ़० खोसणू, खट्टणा गढ़० खटणू, गुढकणा गढ़० गिडकणू, घुट्टणा गढ़० घूटणू घटणा गढ़० घोटणू, चांडणा गढ़ चावणू, टुरणा गढ़० ठुरणू, नठणा फरोळणा गढ़० खरोळणू, फोळणा गढ़० फोळणू, घट्टणा गढ़० थौडणू, घोचणा गढ़० कोचणू खिडणा गढ़० खडीणू हिडणा गढ़० हिटणू आदि।

मराठी

अटका, आडबंद पीठ गढ़० पीठो आलन, ओसाई आडोमा-गढ़० अडासा मांडो मांडी, झोळी (कढ़ी) ओल गढ़० आल मनशी गढ़० कणसी, फाकडा गढ़० काखड काटकी गढ़० काठगी, कुदळी गढ़० कुदळी गबर जौला गढ़० जालो गाना गढ़० ग्वौंडो चकला गढ़० चौकलो घट्टी घुरकन गढ़० घर कड चूनो (पिसान), टाग, छोरा छोरी आई ओडा (जूता) जूडी जोई टगुली झांगला झन्ना गढ़० झालर चिल्ला झुमका भुनवा गढ़० भुल्ला, भ्रमर भ्रूर झोळ टुडा गढ़० टुडा टूम (गढ़० टूमछल्ला) ठट गढ़० ठट्ट ठसक थोति थोक दांवरी दुद नतर (नातर, नातरु, नतरु ना) गढ़० नितर पोंवाडा, पहाळ गढ़० पढाळो मुडासा पातुर पालो फर्रो फांग यांगर मावामी गढ़० मयासी रन वन गढ़० रण-वण लाकूड लमछर, लांव आदि।

गुजराती

आन गढ़० हाट इग्यार अग्यार, उद्घाट उग्घी, उसास उश्वासी थट्टि र

कको कूण ब्यान्टी कूण काइ भौनाकी वानी म काइ (क्यों) को का (कौन) गढ गरो गन्मिा गल्या, घणो घणू (अधिक) छई छई छोरी छोर जौ ज काल काट कडो कुडी कुडो, कुकडो कुतरा कुतरु काढो कोदा खट खड खाट खाल्टो खाव खोल खुटा खेप, खारड खोड खोळ गाजार गजार घाम चाक्लो चीडा चिडो चडो चाळा चोखो छापु छक जूडी जूडी टको ठपका ठमक दादरो नाडो पाग, पाटा पाटो पाला पाळ फाट बियाह ब्याह राड रेलो राडू लाडी सुगटा सुग्टो सावडू सागडो।

कुछ शब्दवाली क्रियाएं भी गुजराती म ज्यों की त्यों मिलती हैं जैसे कावनू कोरनू धकनू घावनू भोंकनू आदि।

बांग्ला

जाला सं० जाला, अविष्ट० उवो एयो जोड भो कनकनि काकुड काकडा कालु काम कासल किना किन्ना कूज कूजो कुडिया कूडा कोदो खता खाटा गाजो गजार गजार गुरवा गडजा गाव गाजा गाव, गाजो गैरा गरो घाम चडा घडो चाकना चोकला चाकला चालन चाळनी चिटठा चाउ चोखो चाग चगा छुच छुचो चुचा भाळ भूमका भोर ठसक डफू डोल डोळ डेपा टेक डिको नवा तुमडो थोप थुपडो थोक दा न्दिर, दा, दादू पाना पाटो माठ माठो रला रेलू लाडा लाहडो सान स्वा सुम्पा खोपा ताती नोहारा धुवारा बराल सं० विराटो काहाडा कुरेडो कुतकुति कुतकुताडो कुतगाटा।

कुछ समान क्रियाएं

म ोनू दाडनू टीरनू लूकनू टकनू टाडगू डूकनू आदि शब्दवाली क्रियाओं के अनुरूप बांग्ला म भी अनेक समान अर्थ और मूल वाली क्रियाएँ व्यवहृत होती हैं।

इस शब्द-सूची म हिन्दी और संस्कृत म सामान्यतः प्रयुक्त शब्दों को नहीं रखा गया है। जो सम्बद्ध शब्द लिए भी गए हैं वे तुलनात्मक दृष्टि से विकास की समान दिशा की ओर संकेत करते हैं। ऊपर दी हुई शब्द-सूची म अनेक समान शब्दों को प्रस्तुत किया गया है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि समान मूल के कारण भी हो सकते हैं और भाषाओं के बीच आदान प्रदान के कारण भी। इसलिए यह सम्भव है कि ये शब्द भाषाओं म ही विकसित रूप हैं जनता के बीच भारतीय भाषाओं म शब्दवाली म प्रविष्ट हुए हैं। हिन्दी के साथ इन भारतीय भाषाओं मे शब्दावली म प्रविष्ट हुए शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। हिन्दी उन की विभाषा होने के नाते यह स्वाभाविक है। इसीलिए हमने तुलना के लिए उन शब्दों का ही अधिक लिया है जिनका प्रयोग परिनिष्ठित हिन्दी में नहीं होता। निष्कर्ष

गढवाली मे उन शब्दो का प्रवेश भिन्न रूप म हो हुआ होगा। टनर न नेपाली शब्दो का अध्ययन करते हुए विविध भारतीय भाषाओ म उपलब्ध समान शब्दो को प्रस्तुत किया है। उसी आधार पर कुछ गढवाली शब्दो का इस प्रकार का अध्ययन गढवाली का मूल प्रकृति, उदगम और विकास की दृष्टि स, महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है

गढ० श्यालो < अल्ल प्रा०, < आद्र, जिप्सी यलो (ताजा), बगला आला, पजाबी अल्ला (कच्चा), सिन्धी आलो मराठी आले (ताजा)।

गढ० उन्दो < अध, कुमाउँनी उन्दो, नेपाली उघो सिन्धी ऊधो, गुजराती ऊँधू, हिन्दी औंधा।

गढ० उब्बो < उब्भ < ऊध्व पश्चिमी पहाडी उभु कुमाउनी उभो, नेपाली उबो बगला उभि, उडिया उभा, पजाबी उभ, लहन्दा उभा, सिन्धी उभो गुजराती उभु, मराठी उभा।

गढ० ब्याले < विकाले पाली विकाले (सन्ध्या), दरद ब्याल (रात्रि), शिणा ब्याले, पश्चिमी पहाडी बियालु, असमी बियाली (दुपहर) तुलनीय हिन्दी बियालू—शाम का भोजन।

गढ० बुवारी असमी बोवारी कुमाउनी बुवारी, नेपाली बुवारी बगला बौहारी (< व्यवहारिका < चाटुर्ज्या के अनुसार) दासी, तुलनीय प्राकृत बोहारो < व्यापार।

गढ० रैप < क्षव, कुमाउनी, उडिया गुजराती, अवधी ब्रज मराठी पजाबी रूप।

गढ० हिटणू सस्कृत हिंडते पाली हिंडति प्राकृत हिंडइ गुज० हिंडवु मराठी हिंडणे, पश्चिमी पहाडी हणठणा, कश्मीरी हुडणू नेवारी हिंडणू।

इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन गढवाली के सन्दभ म अभी होना को है। यदि कभी यह सम्भव हो सका, तो मेरा विश्वास है कि पजाबी गुजराती मराठी राजस्थानी और कुछ सीमा तक बगला से उसके सम्बन्ध सूत्रो पर पर्याप्त प्रकाश पडेगा और तब यह निश्चित करने में सरलता होगी कि गढवाली हिन्दी वग की विभाषा है या वह किसी ऐसी जाति के प्रसार से सम्बद्ध भाषा है जो किसी समय अपन अभियान म पजाब राजस्थान, गुजरात महाराष्ट्र और सुदूर बगाल तक फैली और जिसने भाषा की समान परम्पराए विकसित की। यदि इस दृष्टि स देखें तो गढवाली म हिन्दी का अश विपुल होते हुए भी उतना विलक्षण नहीं है जितना गढवाली का वह अश, जो हिन्दी से बिलकुल विलग है, किन्तु जो उपरोक्त अन्य भारतीय भाषाओ से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

विदेशी शब्द

विदेशी शब्द मुसलमानों और अंग्रेजी प्रभाव से आए हैं। गढ़वाल पर मुसलमानों का शासन नहीं रहा, पर दिल्ली दरबार से उसका सम्पर्क रहा ही है जिसके फलस्वरूप अनेक अरबी, फारसी के शब्द गढ़वाली में घुस आए और जिन्हें बोलते हुए गांवों में रहने वाला गढ़वाली यह महसूस नहीं करता कि वे गढ़वाली के शब्द नहीं हैं। ये शब्द कुछ हिन्दी, उर्दू के माध्यम से प्रविष्ट हुए हैं कुछ जन-सम्पर्क से और कुछ कचहरियों के द्वारा लोक में घुल मिल गए हैं। इनकी संख्या हजारों में है।[1] इनमें से अधिकांश शब्द अपने मूल अरबी और फारसी रूप में उच्चरित होते हैं किन्तु कई शब्दों में ध्वनि परिवर्तन भी हुआ है

आलाचार (लाचार) इखत्यार (अख्तियार) अदौट (अदावत) आस्ते (आहिस्ता), आइन्दा (आयन्दा), करार (इकरार), उस्तान (उस्ताद) हुग्ग (ओहदा) दरगा (दरगाह), कीसा (किस्सह), कवाज (कवायद), ख्वन्द (खाविन्द), ख्वेश (ख्वाहिश) खप्नी (खफ्नी) खामुखाम (खामख्वा) खिजमत (खिज्मत) गुनो (गुनाह), मुश्गल (मुश्किल) गर्दस (गर्दिश) जागा (जगह), जुद्दी (जुदा), जिन्दगी (जिन्दगी) जफन (जश्न) वजा (बजा) जनाना (जमाना), जिनस (जिन्स) जदात (जायदाद), तजवना (तजुर्बा) तापन (ताहमत), दशखत (दस्तखत) डिगर (दीगर) दसट (दहशत) दरखास (दरख्वास्त), दुरस (दुरुस्त), नसत (नसीहत), परवस (परवरिश) फलाणू (फलां), फजीत (फजीहत), फरजंद (फरजन्द) बम (वहम) बुजरग (बुजुर्ग) बद्दी (बदी), मुलाजू (मुलाहजा), मुकरिब (मुकर्रर) मस्तज (मुस्तैद) मासूल (महसूल), मतवल (मतलब), हयार (यार) रवत (रफ्त) रम (रहन) लवज (लफ्ज) ल्याज (लिहाज) लख (लायक), ल्याकत (लियाकत) सुक्कर (शुक्र) शैर (शहर) शेक्की (शेखी), शोदा (शोहदा), शक्स (शख्स), सप्पर (सफर), स्वाल (सवाल), सिरप (सिर्फ) सुबा (सुबहा), सौलियत (सहूलियत) सगार (शहूर) सलेका (सलीका) हिक्मत (हिम्मत), हसूल (वसूल), तोफत (तोहमत) मौवत (मुहब्बत), मुकाम (मकाम)।

आरम्भ में इन शब्दों को ग्रहण करने में पर्याप्त कठिनाई रही होगी। इसीलिए बोलचाल में बहुत से समानार्थी अनुवाद समास प्रयोग में आ गए। दर्द पीड़, बीर-बादर, यों निसाब, ज्यू पराण, अक्कल मति, लाज शरम, आदर-खातर, हाल-समाचार, चीज-वस्त, रूव द गुस्सू।

यह ध्यान देने योग्य है कि अरबी, फारसी शब्द जब गढ़वाली में प्रविष्ट हुए

---

१ कुछ के लिए देखिए मेरी पुस्तक 'गढ़वाली भाषा', पृ० २६ ३१ ।

तो उनमें कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुए बिना न रहे। कुछ परिवर्तन इस प्रकार हैं द > त जैसे मदद > मदत ज > न उस्ताद > उस्ताज। कहीं अनुस्वार का आगम भी हुआ है, जैसे बेजा > बंजा। त > ट जैसे दहशत > दशट।

जहा तक यूरोपीय शब्दों का सम्बन्ध है, वे भी हिन्दी या हिन्दी भाषा भाषी लोगों के माध्यम से ही गढ़वाली में प्रविष्ट हुए हैं। इनमें से कुछ शब्द पुर्तगाली हैं और कुछ अग्रेजी

अस्पताल, अपर, अपील, औडर, इसकूल, अफसर सन्स (साइस) निसपेटर, मिडिल, मास्टर कुमेटी (कमिटी) पराते मटिंग (मीटिंग), कलट्टर डिप्टी, गिलास, गैस, जेल, लाट, पुलिस टम, टिगट, डबल डौन (डाउन) लम्बर, तमाखू, लोट (नोट), पलटन, पिनसिन (पेन्सन), फोटू, बटन फेता मशीन पयासन (फैशन), माचीस, मिलट (मिनिट), मोटर रूल लम्पू होटल, सिगरेट लैट, रेट न टरोल, मुसटी, रडू मोट (वोट) चागस (चास) डानस (डान्स), फुटगोन (फुटबाल), रासण (राशन), कोरट (कोट)।

देशज शब्द

देशज शब्दों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहने की अपेक्षा केवल कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं। गढ़वाली बोली में अनुकार ध्वनियुक्त शब्दों का प्राधान्य है और यदि हम आरम्भिक भाषा की निर्माण की प्रक्रिया ध्वन्यानुकरण, अनुरणन और प्रतीका पर आधारित मानें तो गढ़वाली देशज शब्दों के अनेक मनोरजक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऐसे कुछ शब्दों का उल्लेख आगे अनुकार सूचक प्रत्यय और अनुकरणात्मक धातुएँ में किया गया है। कुछ और शब्द यहाँ भी द्रष्टव्य हैं चतमत, काई बाई छदमद सिस्याट, चुच्याट, भिमडाट, सतबत, सतबल, छुतबुत पुतपुत, मुरमुरया, कुरमुरया दणमण, छणमण बचराणू बचडाणू भुसमुस लुडक्यालू फुरक्यालू राळगळा, बरबरो जरजरा चचकार।

शब्द निर्माण की यह प्रक्रिया स्पष्टत प्रारम्भिक है। बहुत सम्भव है इस प्रकार के शब्दों का सम्बन्ध गढवाल के मूल निवासियों से रहा हो।

ध्वनि-तत्त्व

स्वर-ध्वनियाँ

गढवाली बोली की अधिकाश स्वर ध्वनिया हिन्दी के समान ही हैं। वस्तुत अपनी स्वर सम्पत्ति उसे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश से प्राप्त हुई है और हिन्दी म आते-आते कई प्राचीन स्वर ध्वनियाँ अपना उच्चारण बदल चुकी हैं किन्तु गढवाली म अभी भी वे सुरक्षित हैं। यही कारण है कि गढवाली म हिन्दी के अतिरिक्त भी कई पृथक ध्वनियाँ विद्यमान हैं। उदाहरण क लिए उसम ह्रस्व स्वरो का अति ह्रस्व उच्चारण भी प्रचलित है। उसी प्रकार प्लुत का प्रयोग केवल सम्बोधन तक ही सीमित नहीं मिलता। इसका कारण भौगोलिक प्रतीत होता है। पहाडो म लोग दूर से भी आह्वान करते हुए बातें कर लेते हैं और वहा नदिया के 'कल-कल' मय अवरोध क बीच ध्वनि को श्रव्य बनाने के लिए प्राय लम्बे सुरा का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार गढवाली म निम्नलिखित स्वर ठहरते हैं

ऽ ।

अ, अ, अँ अ, आ आ, इ इ, ई उ उ, ऊ, एँ, ए, एँ, ए, ऐ एँ, ओ, ओ, ओ, ओ, ओ।

इस प्रकार सस्कृत म जहाँ अ, आ केवल दो ध्वनियाँ हैं, वहाँ गढवाली म उसके कई उच्चारण विद्यमान हैं। वास्तव म अ ध्वनि का उच्चारण गढवाल क विभिन्न क्षेत्रा मे भिन्न भिन्न रूप मे होता है। उदाहरण के लिए घर शब्द विभिन्न पट्टियाँ म घो र घोर, घोँर, घॅर, घर, घऽर आदि रूपा म बोला जाता है। गढवाल के रवाइ जौनपुर क्षेत्र म अ ध्वनि ओँ म ढलती प्रतीत होती है। जिला गढवाल की कई बोलिया म वह ओ अथवा ओ हो जाता है। इसलिए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने गढवाली अ ध्वनि का उच्चारण पूर्वी भाषाओं भीली और मराठी क समान अध सवृत ओ तथा सवृत ओँ बताया है।[1] गढवाल क कुछ भागो म अ ध्वनि अए रूप में भी विकसित हुई है जैसे हिन्दी डर डर।

---

1 डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृ० ८२

अ का दीर्घ विलम्बित उच्चारण अ॰ गढ़वाली में सामान्य है, जैसे करऽ, घरऽ, झऽळ, चन्दऽ। इसी प्रकार अ का स्वराघात रहित ह्रस्व उच्चारण अ भी गढ़वाली में व्यापक है। यह अर्ध विवृत उदासीन स्वर है। खड़ीबोली में यह ध्वनि प्रायः नहीं मिलती किन्तु हिन्दी की कई बोलियों में इसका प्रयोग होता है। अपभ्रंश में भी इस प्रकार की ध्वनियाँ विद्यमान थीं। यही नहीं वेदों में भी ह्रस्व स्वर ए और ओ का उच्चारण प्रातिशाख्यों के समय में ही अति ह्रस्व रूप में होने लगा था। गढ़वाली में अ का यह अति ह्रस्व उच्चारण अ शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में मिलता है, जैसे, क्य, सट, ळौताम चुलि सौतौम भलू। बांदर का मुख्य टोपलि नी स्वांगी। मध्य में यह ध्वनि या तो उदासीन स्वर की तरह उच्चरित होती है या पूर्व स्वर के साथ मैत्री कर उसके उच्चारण को अधिक विस्तृत कर देती है। व्यंजन-लोप के कारण जब अ उद्वृत्त स्वर के रूप में रह जाता है तो उसके उच्चारण का यही रूप होता है। उदाहरण के लिए, छादन > छाअण > गढ़॰ छाअन अथवा छान बात > बाअ > चौथ, घौ। जिन शब्दों के अन्त में ळ, ल, ण, ड ध्वनियाँ आती हैं, उनमें निर्बल उच्चारण के साथ अ श्रुति मिलती है कामलो (मूल) अथवा पूर्व स्वर से मैत्री कर लेने पर कालो, राअणी राणी राअण्ड रांड बाअळो बांळा राअड राड आदि। ऐसी स्थिति में यदि पूर्व स्वर आ हुआ तो उसका उच्चारण आ के समान परन्तु, गोल ओष्ठ वाला और चौड़ा होता है। ब्रज और राजस्थानी में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

अँ गढ़वाली की अर्ध विवृत पश्च ह्रस्व ध्वनि है। इसका उच्चारण ओँ और आ से नीचा है। वस्तुतः यह अ की विभिन्न वर्तुल ध्वनि है। गढ़वाली में यह ध्वनि अ", अ से परिवर्तनीय है। यह बहुत कुछ व्यक्ति और क्षेत्र पर निर्भर करता है। बहुधा एक ही शब्द विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न लोगों के मुँह में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। पीछे घर शब्द का उदाहरण दिया जा चुका है। अ के वर्तुल उच्चारण के उदाहरण प्रायः उद्वृत्त अ व पूर्व स्वर में अधिक मिलते हैं जैसे दहन > दअन > दन पवत > पँड, मतर > मँडो नकट > नँळ।

ओं ध्वनि की चर्चा पीछे की जा चुकी है। गढ़वाली आ ध्वनि अंग्रेजी आ (जर्मन्स) ध्वनि की अपेक्षा कम वर्तुल है। इसका उच्चारण ह्रस्व और उच्चारण स्थान दीर्घ आ की अपेक्षा कुछ ऊपर होता है। यह ध्वनि प्रायः संस्कृत के निर्बल व्यंजन युक्त शब्दों के तद्भव रूपों, अनुनासिकों तथा मूर्धन्य व्यंजनों में पूर्व स्वरों में सुनाई देती है। उदाहरण के लिए, बाघ > बाँजो अनाय > नाग

रग > राग, इसी प्रकार टाण, लाड काला, चाँट अनुच्चरित ध्वनि में पूर्व स्वर म, हिन्दी सहारना गढ़० मारणे, आदि।

दीर्घ भी हिन्दी के अनुरूप ही है। इसी प्रकार गढ़वाली की इ, ई, उ, ऊ, ध्वनिया भी हिन्दी से भिन्न नहीं हैं। गढ़वाली म बल देने क लिए दीर्घ ध्वनियां का अधिक दीर्घ करने की प्रवृत्ति भी मिलती है जैसे लाऽल फूल बहुत लाल फूल। इन्न वाले इसने (किसी और न नहीं) कहा।

ह्रस्व ध्वनियां म बहुधा ह्रास के दर्शन होते हैं। यह ह्रास इ ध्वनि म विशेष रूप से हुआ है। इ गढ़वाली की अणु-सी ध्वनि है जिसका उच्चारण अति ह्रस्व रूप में फुसफुसाहट वाले स्वर के रूप म होता है। यह स्वर मध्य और अन्त दो अवस्थाओं में मिलता है। अन्त्य इ बहुत कम सुरक्षित मिलता है, जैसे औंदि अपणा मतइ कडाली प्यारा, क बोइ धीत्यों क बोलिइ धीत्यों। वालों बेटोइ मुणी ब्वारी, मागी पीटिइ भागी गए, बाटइ पुगड़ी तमाखूल उड़ी। अन्यथा वह अपने पूर्व स्वर से मैत्री कर लेता है अथवा क्षतिपूर्ति के लिए अपना स्थान किसी परमग का प्रदान कर देता है औन्दइ औंद मतइ मत या मतकी दीइ दीक, बेटीइ बेटीक, बाटइ बाट आदि। मध्य म भी इस ध्वनि को सुरक्षित रखना न रखना बहुत कुछ उच्चारणकर्ता पर निर्भर करता है, जस, मइत म ैत, दइत द ैत, साइक स ैक आदि।

उ के उच्चारण मे गढ़वाली म हिन्दी उ की अपेक्षा होठों का अधिक आगे बढ़ाना पड़ता है, पर बगला की भांति इसमें होठ अधिक वर्तुल नहीं होते। इस स्वर की प्रवृत्ति इ के समान फुसफुसाहट वाले स्वर म ढल जाने की ओर अधिक लगती है। इ क समान ही गढ़वाली म अति ह्रस्व उ का व्यापक प्रयोग मिलता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं अपणी बाइयोउ यथा क ुजुार, अपणा पिठीउ बिरमोली सडाय देंदी, बौउ प्यारा बिरर जनानी को दिम्युउ बाग अर बल्द का काट्युउ घास, आदि।

गढ़वाली म ए, ऐ, ओ, औ का उच्चारण सामान्यत यइ, आइ, वो आउ होता रहा है। ए ध्वनि गढ़वाली मे ह्रस्व रूप म भी उच्चरित होती है। अग्र मवृत ह्रस्व अग्र स्वर ए क उच्चारण म जीभ का अग्रभाग ए की अपेक्षा कुछ नीचा होता है और बोलने म एकार की अपेक्षा अधिक त्वरा स उच्चरित होता है। उदाहरण के लिए घति, मे ट एत्य, एकत, जेठाणी, तेरो, बेटो, एनि, मेरो, त्ये, त्वें, ज्वे आदि। अपभ्रंश म भी लाघव की यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। संस्कृत में भी इस

प्रकार के उच्चारण का अभाव न था। यह माना जाता है कि सामवेदीय शाखाओं मे इस प्रकार का उच्चारण विद्यमान था।[1] राजस्थानी, गुजराती, कुमाउनी आदि म भी यह प्रवत्ति मिलती है।

अर्धविवत दीर्घ अग्र स्वर के रूप म गढवाली म ए की एक अन्य ध्वनि ऍ का प्रयोग भी मिलता है। इसका उच्चारण स्थान ए स ऊंचा है। कुछ भागो में इसका उच्चारण अधस्वर य़ की भांति भी होता है जसे ‌बेँक (किस लिए) बयेँक, बयेँश तेल त्येँ स, त्येँल बेटा ब्येँटा, ब्येँटा आदि। ऍ ध्वनि के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं ऍक, एन, एनो आदि।

गढवाल क कुछ क्षेत्रा तथा कुमाऊँ म ए ऍ ध्वनियां य, या रूप म परिणत हुई मिलती हैं चेला च्येला, च्याला दश द्यश, दयाश तेरा त्यरो, त्यारो, आदि। उसी प्रकार जौनपुरी और रवांल्टी उपबोलिया मे ऐ ध्वनि अोइ और अइ रूप म उच्चारित होती हैं, जसे, बैरी बोइरी, दत्य दइत, चत चइत। उच्चारण की यह परम्परा प्राकृत म भी मिलती है। ए, ऐ क लिए अइ लिखने का विकल्प तब भी विद्यमान था (पिशल ६१)।

इसस स्पष्ट है कि कभी ए और ओ भी मूल स्वर रहे होंगे। गढवाली म आ ध्वनि अा और अो रूप म भी मिलती है। अा ह्रस्व रूप म बलाघात के साथ उच्चरित होता है जसे का जा, मोदा जान आदि। ओ का यह ह्रस्व सकुल उच्चारण अा ह्रस्व उकार अथवा वकार के बहुत नजदीक पड़ता है। इसीलिए कई शब्दा म दोनो प्रकार के उच्चारण प्रचलित मिलते हैं रोटी रोटी, रुटि, रवटि। कुछ भागो म ओ वा म परिवर्तित हो जाता है, जैसे रोटी रवाटि, बोझ ब्वांज, ब्वज आदि। औ ध्वनि प्राय अाउ अथवा अउ स परिवतनीय है पौर पउर। पाणिनी क 'एचो यवायाव सूत्र स स्पष्ट है कि ए ओ, ऐ, औ ध्वनियां क्रमश अय, अव, आय, आव ध्वनि युग्म हैं। अत अ+उ, आ+उ, अ+ई, आ+ई का ओ और ऐ उद्वत्त स्वर स सध्यक्षर क रूप म परिवतन हो जाता है। यह प्रवत्ति अपभ्रंश म भी मिलती है। गढवाली म इसी प्रकार तद्भव शब्दो की पदान्त ओ ध्वनि कर्ता की सु विभक्ति ( ) के प्रतीक रूप म अनक शब्दो म सुरक्षित मिलता है जस वटक >बाठो वातुल >बौळा।

इन स्वरा की प्लुत ध्वनियां अधिक व्यवहार म तो नही आती किन्तु सबोधन, आह्वान म प्राय सुनन म आती हैं। काकु अथवा बनकर बोलन म भी कभी प्लुत का प्रयोग मिलता है। गुणाधिक्य मात्राधिक्य, आश्चय चीत्कार करुणा आदि भावा को व्यक्त करने क लिए स्वरा म सामान्यत प्लुति लायी जाती है। उदाहरण के लिए—

---

१ डॉ० भोलाशंकर व्यास संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन पृ० २१०

भलीऽ नौनी (बहुत) भली लड़की।
हे नौनाऽ हे लड़के!
मैंन जाऽण नो मैं (बिलकुल) नहीं जाऊगा!
हे राऽम दऽव हे राम, हा दैव!
क्याऽ क्या (क्या हो गया)?

ऋ की गणना संस्कृत में स्वरों में हुई है किन्तु गढ़वाली में ऋ लिपिचिह्न होते हुए भी उसका उच्चारण अब रि मात्र रह गया है और तद्भव शब्दों में तो जैसे उसका लोप ही हो गया है। केवल कुछ ही शब्दों में ऋ ध्वनि सुरक्षित है, जैसे ऋण, ऋतु, ऋषि आदि, अन्यथा ऋ रि रूप में ही विकसित हो गया है—ऋक्ष > रिक्ख।

गढ़वाली स्वरों का विवरण इस प्रकार है —

	अग्र	मध्य	पश्च
			उ
संवृत	इ ई		उ, ऊ
अर्धसंवृत	ए		ओ
	ए̮		ओ
		अ	
अर्धविवृत	ऐ	अँ, अ	ऑ, ऑ
विवृत	अऽ		आ

अनुनासिक और अनुस्वार

गढ़वाली में प्रत्येक स्वर का अपना अनुनासिक रूप है। उसमें अनुनासिकता निम्नलिखित रूपों में मिलती है

वर्गीय अनुनासिक के पूर्व का वर्ण दीर्घ हो जाता है यथा पाँगो > पंक, दाँत > दंत, पाँत > पंक्ति, जाँत > यंत्र, राँग > रंग, आँग > अंग। ऐसी अवस्था में अनुस्वार ह्रस्व हो जाता है। अनुस्वार के ह्रस्वीकरण के और भी उदाहरण मिलते हैं कंठ > काँठा संस्कार > सँसकार अंकमाल > अँग्वाल, अंगार > अँगार, महंत > मँहत, दंड > डाँड। यह प्रवृत्ति ब्रज आदि बोलियों में भी विद्यमान है।

संस्कृत के नपुंसक लिंग प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में शब्द के अन्तिम न् और म अनुस्वार में परिणत हुए मिलते हैं। संस्कृत का वनानि गढ़वाली में वणाइं हो जाता है। मध्य का म वँ बनकर पूर्व वर्ण से मैत्री कर लेता है, कमल > कौंळ।

नासिक्य व्यंजनों के परवर्ती स्वरों में भी अनुनासिकता के दर्शन होते हैं नौंनी, पराण, गौंणी, चणा, गँणा (गहना) पाणी, कौंणी। म् का उच्चारण अनु-

स्वार के साथ करने की प्रवृत्ति अनेक शब्दों म मिलती है—मैं, मी मुँ मांज, मोंमा मौंन आदि। सपन्ज सानुनासिकता के उदाहरण न, ण, प, म के साथ ही अधिक मिलते हैं। प ध्वनि के साथ प्यांर, पांख, पांन पाँणी, फौंन (पाश), प सा, चौं तिरफ, तथा स ध्वनि के साथ सांच, सांत (साथ), सांप, सास (श्वास) के रूप म जो सानुनासिकता मिलती है उसकी व्याख्या भिन्न रूप से ही की जानी चाहिए। गढवाली मे स्वत अनुनासिकता का भी अभाव नहीं है। इस सन्दभ म कुछ शब्दों का अध्ययन मनोरजक है नाटक, जपणू जपना, स्यूण सेवनी, सांसो (साहस), छायां, रचना, मुगरो मुद्गर, नमसकार नमस्कार, नम नख, ककोडो ककोंटक उग्धो अघ, सौं शपथ > सवहो > सौं, बांगो वक्र, पछी पक्षी, जोंट्यूथ, सगुत सवत्र, न्यू नीवी, वस दस्य, कूंजो कुब्ज हत्या हत्या, सुगर शूकर, सिंवाल शवाल। दूसरी ओर ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनकी अनुनासिकता गढवाली म आकर लुप्त हुई है वसत (रवांल्टी म वसन्त के लिए) मास मास सिक सिंह मलखण (उल्लघन), घूटणू √घुट म० आ० भा०।

स अथवा न के साथ जहां सस्कृत म अनुस्वार होता है, वहां उसके गढवाली उच्चारण म ग् का आगमन होता है, जसे सगसार ससार, वग्न, भग्न, मागस आदि। इन वर्णों के साथ अनुस्वार का यह उच्चारण 'गुम्' रूप मे वदिक काल मे भी विद्यमान था।[1]

गढवाली म प्राय सभी मूल स्वरो के अननासिक रूप मिलते हैं

अ अधेर पछी पधारो चदर
अँ अँगुळि अँधवे, अंग्वाळ, अजूळ
आ काद, बाट, राड माडा
आँ आँट, आंटू, आंस, बांदर, जण्यां, रुआंळ
इं पिडाळ, निं, इसाफ
इ पुळ याइ, हीस, मळी, छुइ
उ फुडो, डुडो, पुगडी, मुजमुज्या
ऊँ ऊँन, देस्यू नऊ, प्यऊँ
ए गेंदू बेंट लेंच, बोलेंद
एँ ऐंच, ऐंचळ, ऐंसू, हैंसण
ओं होंद, ओंस, डाडो, फोंदा
औं औंरा, औंळा, चौंळ पडौंद, रौंम

स्वर-संयोग

गढवाली म दो या दो से अधिक स्वरो का सयोग पाया जाता है। कभी-कभी

[1] डा० मेनाशंकर व्यास संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११५

यह बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उन ध्वनियों का उच्चारण सन्ध्यक्षर के रूप में करे अथवा विभिन्न स्वरों की पृथक् सत्ता बनाए रखे। हाँ कुछ शब्द ऐसे अवश्य हैं जहाँ सन्ध्यक्षरों और संयुक्त स्वरों के उच्चारण में सतर्कता की आवश्यकता होती है क्योंकि इनका द्विविध उच्चारण भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतन करता है

सऊँ सबौ	सौं कसम,	जई दूस	जैं जब
बऊ तैरना	बौ मामी	लाई सरमा	लै लिए
रउ तालाब,	रौ राव,	साइ माम्री	सै सौ
देव दव	द्यौ आकाश	भाउ भाव,	भौं दर
कुई कुआँ	क्वी कोई	कई कितने ही	कै वमन

इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त गढ़वाली में सन्ध्यक्षरों के अनेक उदाहरण मिलते हैं

अ‿ई वई, छई अपकुई, ल्वई

अ‿ए कय, गये, बिलये

अ‿उ कम्बउ, सउ पउ, दऊँ, अउर

आ‿ओ ब्याआ, स्याओ

आ‿ई उकाई, बुआई, बिवाई जुआई

आ‿ऊ ब्याऊ, प्याऊ, बिलाउ, घराऊ

आ‿ए लाए, द्याए, बुलाए

इ‿ए न्िए, जिए, सिए

उ‿आ रउवा लउवा, रुआ, लुवा

उ‿ई कुइ, मुइ छुइ, दुई

ए‿ए देए देहेए रखेए

ऐ‿इ ऐइँच ऐइँसू एइडौं तनैइ

ओ‿अ लोअल, बोअण जाअन

ओ‿ई जोई धाइ, रोई, हाई

ओ‿उ बिसोउ, पडोउ, सौउ, धौऊ न्यो

अथ स्वर

अध स्वर य और व गढवाली मे विकल्प रूप से अ, इ तथा ओ, उ से परिवर्तनीय है। प्रारम्भ का य ज में परिणत हो जाता है किन्तु जहाँ य का उच्चारण इ की ओर ढलता मिलता है वहाँ य प्राय सुरक्षित रहता है। वास्तव मे प्राकृत तक आते आते य का दुहरा विकास होने लगा था। शौरसेनी अपभ्रंश में भी य का उच्चारण लघु प्रयत्नतर और अपूर्ण था। गढवाली की य ध्वनि भी ऐसी ही है। इ गढवाली में अनेक अवसरों पर य रूप में उच्चरित होता है विन्दु व्यन्दु। व उ सानुकूल ध्वनियाँ हैं स्वप्न>सुइणा। अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी।

गढवाली में य और व श्रुति का प्राधान्य है। यह परम्परा उसे प्राकृत और अपभ्रंश से प्राप्त हुई है। गढवाली मे य और व श्रुति के जो कुछ रूप मिलते हैं वे उन्हीं के अनुकूल हैं नगर>नैल हृदय>हियो शुक>सुवा, शृगाल>स्याळ, बीजपूर>बिजोरा अधकार>अध्यारो, कुन्तल>कौळ, शूकर>सो र। लौकिक संस्कृत मे य की अपेक्षा व श्रुति का सध्यात्मक औ रूप अधिक मिलता है। गढ़वाली मे ओ और औ दोनों रूप सम्भव हैं। गढवाली की व ध्वनि बहुधा जब संधि नहीं करती तो प्राय ब में परिणत हो जाती है। य को कभी शब्द के साथ जोड देने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है जैसे नाम श्याम परेशान परयासान। य श्रुति का मुख्य आधार प और म ध्वनियाँ है।

स्वरों की उत्पत्ति

गढ़वाली में प्रयुक्त स्वर ध्वनियों की उत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है।

अ ध्वनि का मूल

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अ से जैसे—

भणा<जन , दइ<दधि सल्न<शल्य।

स्वराघात के अभाव में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के आ से,

अगास<आकाश निरकार<निराकार,

बत्वाणी<वात पानीय, अळ्सो<आलस्य,

पखाण<पाषाण, कवासो<कार्पासी,

बसगाळ<वर्षाकाल, मग्वाडो<नाग वाटिका।

प्राचीन और मध्यकालीन आर्यभाषा के इ, ई से,

कनो<कीदृश बभूत<विभूति, परचो<परिचय

कयों<कियत, उनन्दो<अनिद्र जोत<ज्योति

काणसो<कनीयस्।

प्रा० भा० आ० भा० के उ, ऊ (विशेषत मध्यग) से

गरो<गुरु , मनुस<मनुष्य, चत्तर<चतुर,

वस्त<वस्तु कुखडो<कुक्कुट, कत्थ<म० आ० भा० कत्थ<कुत्र।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ऋ से,

मौळीक<मुकुलीकृत मावत<मान+पुत्र,

ठकार<शृंगार

स्वर भक्ति से,

जुगम<युग्म, विघन<विघ्न, नेतर<नेत्र।

अ ध्वनि का मूल

प्राचीन भारतीय आयभाषा के आ से,

क्वात<क्वाथ, व्याणो<विमान, लीखा<लिक्षा।

संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती अ से,

माथे<मस्तके, आथि<अस्ति माल<मल्ल, राता<रक्तक,

वाछ्रू<वत्स रूप काखडी<कर्कटी, माम्मो<सम्यक

पाथो<प्रस्थ, आछरी<अप्सरा, सामल<सबल, पाछ<पश्च।

इस प्रकार द्वित्व वर्णों स पूर्व का अ आ मे परिणत हो गया है।

संस्कृत के अ आ तथा आ अ के संयोग अथवा स्वर संकोच से,

अन्धारा<अन्धकार, काठार<काष्ठागार, कल्यार<कल्याहार,

अखाल<अकमाल, खल्याण<खलस्थान, ऐत्वार<आदित्यवार।

द्वित्व व्यंजनों के पूर्व प्रयुक्त ऋ से

माटो<मृत्तिका, माकल<शृंखला, माठ<मष्ठ।

इ ध्वनि का मूल

प्रा० भा० आ० भा० के इ और म० आ० भा० के इअ<इक, इका से,

निमी<निम्बुक, मुठि<मुष्टि, पातगी<पत्रिका।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के अ से,

लिशो<लाक्ष, जिउरा<यमराज बरिस<वर्ष, उत्तिम<उत्तम,

रिटणो रिडणो<भ्रमटन, छिमा<क्षमा। इत्य<मध्यकालीन आय-

भाषा इत्थि<प्राचीन भारतीय आयभाषा अत्र।

प्राचीन भा० आयभाषा के ऋ से

रिख<ऋक्ष, किरमोलो<कृमि+ल, मिरतक<मृतक, सियाळ<

शृगाल, घिऊ<घृत हियो<हृदय।

प्राचीन भारतीय आयभाषा ए तथा ऐ स,

खितरपाल<क्षेत्रपाल, सिवाल<शैवाल।

ई ध्वनि का मूल

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ई से,

गीत, गीत धनी<धरणी, सगानी<सगार्थी।

अन्त्य स्वर के लुप्त हो जाने पर प्रा० भा० आ० के इ से,

तीथ<तिथि, हीस<हिमा, जीव<जिह्वा, इस्सि<म० आ० भा० इसिसि<ईषत्।

प्राचीन भा०आयभाषा के उ अथवा म० आ० भा० के—य से,

बाई<वायु आयु<आई राज्य रैव<राजुक।

प्राचीन भा० आयभाषा के ऋ तथा ए से,

तीस<तृषा, पीट<पृष्ठ, डीट<दृष्टि, मलीच<मलेच्छ।

उ ध्वनि की उत्पत्ति

प्राचीन भा० आयभाषा के उ से, यथा—

तुडा<रुठा, सुद<सुधि उच्छौ<उत्सव।

प्राचीन भा० आयभाषा के ऊ से

भुइ<भूमि, पुत<पूत सुप्पा<सूप, सुज<सूय,

थुप+डो<स्तूप, सुन< नूय।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ओ तथा (विसग) अथवा नु प्रत्यय से

घुरोध<क्रोध, मणू<जनो—जन।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ऋ से,

भाउज<भ्रात जाया बुड्या<वृद्ध।

किसी व्यजन से सयुक्त व से,

सुभौ<स्वभाव सुपिना<स्वप्न, सुँना<स्वर्ण।

ऊ की उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ऊ से,

ऊन<ऊण, मूत<मूत्र, बोउ<वधू।

प्राचीन भा० आयभाषा के उ से

असूर<असुर, पूच<पृच्छ, पूठा<पृष्ठा, रूद<रुद्र, कूल<कुल्या,

कूड़ी<कुटी निठूर<निष्ठुर, मूर<मुरा, गूच<गुचि।

ओ औ से यथा—

जूगत<योग्य, पूष<पौष, गूस्यू<गोस्वामी दूण<द्रोण, बूणो<वाण।

शब्द के अन्त की अव ध्वनि से,

भरू<भरव, सदू<सधव, दाणू<दानव।

ए, एँ की उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ए से,

नेतु<श्वेत मजे<मध्य वेल<वेला जेठो<ज्येष्ठ,

एकसो<एक+स।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ऐ से,

सेँज<शैय्या, ते ल<नल ।

प्राचीन भा० आयभाषा के अ तथा आ से,

मगध<प० आ० भा० मवेनह्<सवत्र, मेडका<म डक, पटलो <पटन, केमू<क्रमुक ।

प्रा० भा० आ० भा० की इ ध्वनि से,

देमी<जिम्वा, दनद्दर<दरिद्र, घमेली<घम्मिन

पवन्तर<पवित्र, चरत्तर<चरित्र, समरा<शिम्बल ।

य अथवा व के साथ स्वर संयोग से,

थेऊ<स्थविर, रम्वे ई<रमवनी, कलऊ<कल्यवन

उवह<नाया परस परश्व ।

ऐ ध्वनि की उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ऐ से

बद<वैद्य, दव, मनाय ।

प्राचीन भा० आयभाषा के आ से,

ऐंचल्<आचल मत<मातृगृह, सैत<स्यात् ।

य के साथ हुई स्वर संधि से,

सम<समय, परछित<प्रायश्चित्त निच्छ<निश्चय रामैण<रामायण ।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के ए से,

ऐंपु<एवम पणा<प्रदान ।

हकार के लोप तथा अवशिष्ट स्वर की पूर्व स्वर के साथ मैत्री हो जाने से,

गल<ग्राहक भसी<महिषी, गैंर<गह्वर ।

उद्वृत्त स्वरों के साथ पूर्व स्वर की मैत्री से,

रण<रमणी, नैल<नगर, स्वण<स्वामिनी,

पैनरवाण<पन्नाण बैण<भगिनी ।

ओ ध्वनि की व्युत्पत्ति

प्रा० भा० आ० भा० के ओ तथा औ से

ओठ<ओष्ठ, जोतो<योवन तथा गोरो<गौर ।

संस्कृत के अ से,

नव्य भारतीय आयभाषाओं म संस्कृत की प्रथमा विभक्ति लुप्त हो गयी है किन्तु हिमाली बोलियों में यह ओ (अथवा उ) रूप में शब्द के साथ ही जुड़ी मिलती है। ओ संस्कृत में भी विद्यमान था और बाद में प्राकृत में भी रहा। यह अस (सु) का प्रतिरूप है। गढ़वाली में यह पुलिंग शब्दों में सर्वत्र विद्यमान है

बाळो<बाल, पालो<पण, सूरो<शूर, कुखड़ो<कुक्कुट ।

य तथा व ध्वनि के पूर्व स्वर के साथ ...

परचो < परिचय, कोदो < कोद्रव, मल्यो < मलय ।

उ, ऊ से,

सत्य यह है कि उ तथा ओ ध्वनियां परस्पर परिवर्तनीय हैं। गढ़वाली में शब्द के अन्त में जब ये ध्वनियां होती हैं तो इनका ऊ अथवा ओ उच्चारण दोनों चलते हैं जैसे जाणो, जाणू, कोदो कोदू आदि। शब्द के प्रारम्भ और मध्य में भी कभी इस प्रकार के परिवर्तन उपलब्ध हो जाते हैं जैसे समोदर < समुद्र, ओदर < उदर आदि।

उ, ऊ को ओ में इस प्रकार की परिणति प्राय संयुक्त व्यंजनों के पूर्व होती है

तोमी < तुम्बक कोख < कुक्षि मोल < मूल्य।

प्रा० भा० आयभाषा की अ ध्वनि से,

चोच < चञ्चु, मोळ < मल आदि।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि गढ़वाल के कुछ भागों में अ का उच्चारण कुछ ओ का सा होता है बड़ा बोँडा बन वोँण।

औ ध्वनि का मूल

प्राचीन भारतीय आयभाषा के औ तथा अव या आव से

गौ > गौड़ी, औत < आवत लोण < लवण मौन < भवन उच्छौ < उत्सव जौ < यव सुभौ < स्वभाव।

प्राचीन भारतीय आयभाषा के उ से

कौती < कुन्ती, ताउ < तुद ।

शब्द के मध्य में आने वाले प, म, व से,

सौत < सपत्नी, औता < अपुत्रक कौंळ < कमल गौंत < गो मूत्र।

मध्य में त् क लोप हो जाने पर अ तथा उ के संयोग से,

चौरी < चत्वारिका, चौक < चतुष्क, चौथो < चतुर्थ,

कौंळ < कुन्तल बौळो < वातुल।

स्वर परिवर्तन

प्राकृत और अपभ्रंश तक आते-आते भारतीय आयभाषा ध्वनि सम्बन्धी अनेक परिवर्तनों से होकर आगे बढ़ी है। मध्य भारतीय आयभाषाओं को ये परिवर्तन उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। गढ़वाली में इस प्रकार के अनेक परिवर्तन स्वरों के पारस्परिक विनिमय, दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण स्वर-संकोच सम्प्रसारण, स्वरभक्ति आदि रूपों में हुए हैं। स्वरों की उत्पत्ति सम्बन्धी अध्ययन से यह स्पष्ट है।

गढ़वाली में प्राचीन तथा मध्यकालीन आयभाषा के अनेक स्वर निर्बल होकर लुप्त हुए हैं। कइयों का बहुत ही अस्पष्ट, अपूर्ण तथा लुप्त होता हुआ उच्चारण

बड़ी कठिनाई से पकड़ में आता है। स्वराघात के कारण स्वर लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

आदि-स्वर

गढ़वाली में आदि-स्वर प्रायः सुरक्षित मिलते हैं, किन्तु स्वराघात मुख्य अक्षर पर न होने के कारण ह्रस्व को प्राप्त होती ध्वनियाँ प्रायः लोप हो गयी हैं।

बासो < आवास, हार < आहार, हकार < अहंकार, सीक < इषीका, गूठी < अंगुष्ठिका, कट्ठा < एकस्थित, नाज < अन्न, हग्गण < अहगण, जौ < आया, इति < ति (काटी' ति किवाड़), रण (–वण) < अरण्य।

स्वराघात के कारण जहाँ स्वर लुप्त नहीं होता वहाँ कहीं हकार और र या लकार का आगम होता है

लिवलू (इद्यु > इवलु) हवास < अभ्यास, रीस < ईर्ष्या, हौर < अपर।

जैसा कि स्वरों की उत्पत्ति सम्बन्धी अध्ययन से स्पष्ट है, गढ़वाली में आदि स्वर में इन रूपों में परिवर्तन हुए हैं

१ संयुक्त व्यंजनों के पूर्व प्रयुक्त आदि स्वर दीर्घ हो जाते हैं

भक्त > भात, भिक्षा > भीख।

२ स्वराघात के अभाव में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं

सूर्य > सुज, सौभाग्य > सुआग, आलस्य > अँळसा।

३ ओ औ स्वर ज्यों के त्यों मिलते हैं। फिर भी स्वराघात के कारण ह्रस्व हो जाते हैं और कभी उ में परिणत हुए मिलते हैं।

४ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अ, इ, उ, ऋ, ए, आ स्वर एक-दूसरे के स्थानापन्न बने भी मिलते हैं

वायु > बाई, बिन्दु > बुन्द तथा बन्दु। उन्नर > आदर।

५ उदवृत्त स्वर अ, आ, इ, उ अपने पूर्व स्वर से मैत्री कर लेते हैं सपत्नी > सौत नाम > नौं, खदिर > खैर माहित > म्यत, बधिर > बैरो। मध्यम व और य भी पूर्व स्वर से मैत्री कर लेते हैं जैसे, धवल > धौळो, भय > भै, भवन > भौन।

मध्य-स्वर

गढ़वाली में मध्य स्वर लोप के जो उदाहरण मिलते हैं वे उसे भारतीय आर्य-भाषा के मध्यकालीन विकास से उत्तराधिकार में मिले प्रतीत होते हैं।

साधारणतः उनमें अ, आ का लोप मिलता है। इ ध्वनि या तो निर्बल अथवा अति ह्रस्व हुई मिलती है या उदवृत्त स्वर के रूप में वह पूर्व स्वर से मैत्री कर लेती है भगिनी > बैण, प्रहर > पैर। इसके विपरीत स्वराघात के कारण दीर्घ ई

सुदीघ हो जाता है। स्वराघात के सम्ब'ध म दूसरी बात यह है कि जहा अ"य न"ज भारतीय आयभाषाओ म व्यजन ध्वनियो के सस्वर उच्चारण समा"त हात जा रहे है, वहाँ गढवाली मे व्यजन ध्वनि के साथ स्वर वदिक काल की तरह पूरी तरह उच्चारित होते हैं। कुछ अ"य विशेषताएँ या हैं

(क) सयुक्त व्यजनो के पूववर्ती स्वर पर बल पडता है, जमे र'ज्जा, खा'द पे'न्द, मि ठठो, गि'च्चो सा'त्तू।

(ख) यदि तीन स्वर ध्वनिया का श"द हा और मध्य की ध्वनि ह्रस्व हा तो स्वराघात मध्य म होता है जसे, बिज'ली बादु ली नक'ली दग ड्डो, हम'दी।

(ग) स्वराघात लुप्त होनी अथवा हुई स्वर ध्वनि क पूव स्वर पर पडता है म नखी, क मल, च'ट अ पडा।

(घ) दा अक्षर के शब्दा म स्वराघात पहले स्वर पर होता है हो र (और) द'था आ न आ'म, आ'ख।

(ङ) तीन अथवा अधिक अक्षरो के शब्दा म अ त के तीसरे अक्षर पर स्वरा घात होता है यदि उससे पहला स्वर दीघ हो

बुरा'न', कमिला'न', पराणि', सुबदार'।

व्यंजन ध्वनियाँ

गढ़वाली की व्यंजन ध्वनियाँ इस प्रकार हैं

	स्पर्श	स्पर्श संघर्षी	नासिक्य	पार्श्विक लुंठित	उत्क्षिप्त संघर्षी
कंठ्य	क् ख्				
	ग् घ्		ङ्		
तालव्य		च् छ्			
		ज् झ्	ञ्		श
मूर्धन्य	ट् ठ्				
	ड् ढ			ळ्	ड़् ण्
वर्त्स्य			न् न्ह्	ल् ल्ह्	स्
				र्ह् र्	
दन्त्य	त् थ्				
	द् ध्				
ओष्ठ्य	प् फ्				
	ब् भ्		म् म्ह्		

स्वरयन्त्रमुखी ह् अर्धस्वर य् व्

गढ़वाली की अधिकांश व्यंजन ध्वनियाँ हिन्दी और उसकी बोलियों में पायी जाती हैं। ळ और ण दो उसकी विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। कंठ्य ध्वनियाँ (क्, ख्, ग, घ) का उच्चारण स्थान हिन्दी की अपेक्षा गढ़वाली में कुछ पीछे प्रतीत होता है। संभवतः प्राचीन आर्यभाषा में इनका उच्चारण कुछ वैसा ही था। ळ और ण ध्वनि के संयोग में ये ध्वनियाँ अपने उस प्राचीन रूप का स्पष्ट आभास देती हैं।

च वर्गीय (च्, छ ज्, झ) ध्वनियाँ हिन्दी में संघर्षी मानी जाती हैं। गढ़वाली में ये किंचित अधिक संघर्षी हैं और इनका उच्चारण ट वर्गीय ध्वनियों के उच्चारण के स्थान से कुछ पीछे प्रतीत होता है। गढ़वाल के कुछ भागों में, विशेषतः जो जौनसार बावर के निकट पड़ते हैं च वर्गीय ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण भी सुनने को मिलता है। हिमाचल प्रदेश की बोलियों, नेपाली और राजस्थानी में भी इस प्रकार का उच्चारण विद्यमान है।

ट वर्गीय ध्वनियाँ गढ़वाली में भी मूर्धन्य हैं। संस्कृत ट ध्वनि भारोपीय त

का विकास है। गढवाली म भी विदशी शब्दो म त के ट म परिणत होने के उदाहरण मिलते हैं।

त वर्गीय ध्वनियाँ हिन्दी के समान ही हैं। थ और ध महाप्राण ध्वनिया हैं पर उनका महाप्राणत्व गढवाली म बहुत हलका प्रतीत होता है।

प वर्गीय ध्वनियाँ भी हिन्दी स भिन्न नही पर गढवाली म उनक उच्चारण म होठ हिन्दी की अपेक्षा कुछ आगे बढ़ाने पडते हैं।

म ङ, ञ ण, न आदि अनुनासिको का उच्चारण कोमल तालु स होता है। इनम म ण और न ही अधिक प्रयुक्त ध्वनिया हैं। ङ का उच्चारण ग होता है और शब्द के मध्य मे कभी यह ध्वनि सुनाई देती है भाङ्गा। ञ के स्थान का यँ ने ग्रहण कर लिया है यथा, छुञी छुइ लाञा, लायाँ। किन्तु सत्य यह है कि (न सयुक्त व्यजन के रूप म और न पृथक ध्वनि के रूप म) इन ध्वनियो का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रह गया है।

ण गढवाली म उत्क्षिप्त परिवेष्टित ध्वनि है। इसका उच्चारण ड़ के निकट पडता है। हिमाली बोलिया म मध्यग और अत्य न ण हो जाता है। ण से न हो जाने के उदाहरण विरल हैं। वसे उनम ण और न् दोनो ध्वनियाँ पायी जाती हैं। ऐसे भी अनक शब्द हैं जिनम न् ण म परिवर्तित नही होता। प्राकृत म ण आद्य अक्षर के रूप म भी मिलता है गढवाली म एसा सभव नहीं। वसे प्राकृत मे भी आरम्भ म न् लिखन की आज्ञा थी।

न् भी गढवाली म अब दत्य ध्वनि नही रही है। अपने उच्चारण म वह ण के पास हो है। गढवाल के कुछ भागो म विशेषत रवाइ जौनपुर में म की एक महाप्राण न्ह ध्वनि भी मिलती है। हिन्दी की कुछ बोलिया म यह ध्वनि विशेष रूप स पायी जाती है। गढ़वाली न् और न्ह दो पृथक ध्वनियाँ हैं जसे नाती और न्हति (नास्ति), हान्दा (जाता है), न्हानो (लडका) नोनो।

ल गढवाली म म की अनुनासिकता हिन्दी की अपेक्षा थोडा अधिक है। इसकी एक महाप्राण ध्वनि म्ह भी कुछ भागो म प्रचलित है। यह ध्वनि शब्द के प्रारम्भ म भी आती है जैसे म्हैंक म्हैंन, म्हांव, म्हैंस। मध्य और अन्त में इसका प्रयोग विशेष रूप से होता है, बाम्हण, बरम्हा।

ल गढवाली की यह प्रयक्त ध्वनि नही है। उसम इसके स्थान पर प्राय उत्क्षिप्त परिवेष्टित ळ का प्रयोग होता है। ळ ध्वनि सभवत उस बोली में वर्तमान थी जिसके आधार पर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा बनी।[1] ळ और ळ्ह दोनों ध्वनियाँ वदिक सस्कृत म प्राप्त हैं।[2] पजाबी प्राकृत में आकर ल ळ होने लगता है। सस्कृत का ळ स्वर मध्यग ड का विकसित रूप माना जाता है। गढवाली मे भी

---

[1] डॉ० ध वी हि भा साहित्य का इतिहास पृ० ६४
[2] डॉ० श्याम गढ़वाली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १०६

टवर्गीय ध्वनियाँ और र प्राय: ळ में परिवर्तित हो जाते हैं, यथा पीडा < पिळा, क्रोल (क्रोड) > काळ, डेग > ढळा। पाली और अपभ्रंश में भी लकार की इस मूर्धन्यीकृत ध्वनि का पर्याप्त व्यवहार हुआ है। गढ़वाली में यह पार्श्विक अल्पप्राण मूर्धन्य व्यंजन है। नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में यह राजस्थानी, हरियाणवी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, लहन्दा, सिन्धी और उड़िया में भी पायी जाती है। गढ़वाल के रवांई क्षेत्र में ल, ळ के स्थान पर ड का ही प्रयोग होता है, काला काळो, काडो। उसी तरह कड़जो (कलेजा), दाड (दाल)।

ल्ह ल की महाप्राण ध्वनि है। आह्वान में यह स्पष्ट सुनाई देती है, जैसे, हे ल्ही (हे ली!), उसी प्रकार भेड़ों को पुकारने में, अह्या ल्ह ल्ह! साधन शब्दों में भी इसका प्रयोग व्यापक रूप से मिलता है, जैसे, ल्हैक, ल्हाई, ल्हसक, ल्हास। लोकगीत की पंक्ति है : गयाळी वो दुई ल्हस।

ड़ की एक महाप्राण ध्वनि ड़्ह रूप में भी सुनने को मिलती है जिसमें ढ की अपेक्षा महाप्राणत्व की मात्रा कम होती है। वास्तव में गढ़वाली में ढ़ का प्रयोग विरल है, उसके स्थान पर ड़्ह का ही प्रयोग पाया जाता है जैसे हिन्दी—किताब पढ़, गढ़वाली—किताब पड़्ह। उसी प्रकार र् की महाप्राण ध्वनि र्ह का भी गढ़वाली में प्रयोग मिलता है जैसे र्हैत, र्हान, र्हौल, र्हैस आदि।

गढ़वाली की र, ड, ल, ळ ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तनीय हैं। वैसे र और ड का विनिमय बहुत ही विरल है। र का ल या ळ (न का ल भी जैसे प्राकृत में निम्ब लिम्ब, गढ़वाली लिम्बू, लवर, लोट) हो जाता है पर ल का र व्यापक स्तर पर संभव नहीं। र>ल के अनेक उदाहरण मिलते हैं : दरिद्र दलेद्र, स्मरण सुमलूण, निष्क्रम निखल्म, बदरिका बडाली, शरीर शरील। र और ल का यह विनिमय आकस्मिक नहीं है। पालि में दो स्वर ध्वनियों के मध्य में अवस्थित ड, ढ बदलकर ळ, ळह हो जाते थे, जैसे स्फटिक > *फडिक > फळिक। विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन पृथक शाखाओं में र, ल, ळ के पृथक रूप प्रचलित रहे होंगे। बाद में एकीकरण से यह शिथिलता आनी स्वाभाविक थी।

ल्ह, म्ह, रह, न्ह आदि महाप्राण ध्वनियाँ मिलती हैं। ष् की परिणति या तो श, स में हो गई है या उसका उच्चारण ख रह गया है। ष का ख उच्चारण संस्कृत काल में ही हो गया था।[1] गढ़वाल के ब्राह्मण आज भी संस्कृत ष का उच्चारण ख रूप में ही करते हैं। श और स गढ़वाल में दोनों ही उच्चारण मिलते हैं किन्तु कुछ भागों में लोग केवल श का ही बोलते हैं और कुछ में स को ही। रवांई और कुमाऊँ के सीमावर्ती गढ़वाली क्षेत्र में स भी श हो जाता है, शेष भाग में लोग श का उच्चारण भी स ही करते हैं। रमोली, उत्तरकाशी आदि क्षेत्रों में स ह में परिवर्तित

---

१ डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११४

हो जाता है। सिंधी, राजस्थानी, पछाँही हिंदी, असमी और पूर्वी बंग की बंगला, मराठी आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

ह ध्वनि सघोष और अघोष दोनों हैं। अघोष ह विसर्ग रूप में संस्कृत में विद्यमान था। संस्कृत के विसर्ग युक्त शब्द ओकारान्त (या उकारान्त) होकर गढ़वाली में आए हैं। उनमें ओ ध्वनि के पश्चात् ह ध्वनि अपनी पूर्ववर्ती ध्वनि से मिली हुई आज भी स्पष्ट सुनाई देती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं उध्व > उब्बोह, नौनोह, बौळोह, गोडाह। यह ध्वनि राजस्थानी और गुजराती में भी पायी जाती है।

शब्द के प्रारम्भ में महाप्राण वर्णों में ह ध्वनि प्रायः सुरक्षित रहती है जैसे, खोळ खार, खाट, घात, छप्पर झणा, ठंड, ढोर, थण, धार, फाळ, भाग आदि। रवाल्टी में ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं जहाँ प्रारम्भ की महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं, यथा, भूमि > बुइ, भाई > बाई।[1] यह प्रवृत्ति संभवतः वैदिक संस्कृत में भी थी। गढ़वाली में प्रारम्भ का हकार सुरक्षित मिलता है किन्तु मध्य और पदान्त की महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण होकर ही रहती है, जैसे, व्याघ्र > बाग, सांझ > सांज। पर यह नियम केवल सघोष ध्वनियों पर ही अधिक लागू होता है। ह यदि पदान्त का भाग हो तो उसका प्रायः लोप हो जाता है और पूर्व स्वर से मिल जाता है कहाँ > कां नहि > नैं सिंह > स्यूं।

मध्य की महाप्राण ध्वनियों में कभी हकार का लोप सा मिलता है। उस अवस्था में ह अपने पूर्व वर्ण से मिल जाता है, यथा जहर—ज्हैर, लहर—ल्हैर, सहज—स्हैज, बहिर—भैर, दुहिता—धिया। ऐसी अवस्था में वह अपने पूर्व वर्ण में महाप्राणत्व ले आता है। किन्तु इससे भी एक भिन्न स्थिति वह होती है, जहाँ हकार का लोप वर्तनी में तो हो जाता है किन्तु उच्चारण में उसका अवस्थान सूचित होता है। ऐसी ध्वनि को डॉ० चाटुर्ज्या ने आश्वसित या पुनरुक्त कहा है और उसे [ ] रूप में प्रकट करने की विधि अपनायी है।[2] गढ़वाली में ऐसी ध्वनि के अनेक उदाहरण हैं न्हन द न, प्रहर प र। इस प्रकार हकार के लोप से स्वर विन्यास बदल जाता है।

सत्य यह है बाहरी शाखा की भाषाओं विशेषतः पंजाबी हिन्दकी, गुजराती मराठी बंगला राजस्थानी उड़िया और पहाड़ी में महाप्राण एवं हकार के विभिन्न रूप मिलते हैं। गढ़वाली में अनेक शब्दों पर हकार का आगम भी हो जाता है। हकार की विकृति की दृष्टि से डॉ० चाटुर्ज्या ने भारतीय आर्य भाषाओं को दो

---

१ परिनिष्ठित गढ़वाली में हिन्दी और उसकी बोलियों की भांति कुछ अन्य उदाहरण मिलते हैं जैसे, बैल < बलिवर्द, मोहन < शृंगणा, साड़ा < षाष्टिक आदि।

२ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा, पृ० २४

वर्गों में विभक्त किया है और हिमाली भाषाओं को उस वर्ग में रखा है जिनमें हकार की विकृति नहीं होती।[1]

य और व ध्वनियाँ क्रमशः ज और ब में परिणत हो जाती हैं किन्तु वे अपने मूल में सुरक्षित भी मिलती हैं। प्राकृत में संस्कृत य का दुहरा विकास हुआ है। संस्कृत का स्वर मध्यगत य उसमें लुप्त हुआ मिलता है। गढ़वाली में वह पूर्व वर्ण से मैत्री कर लेता है। वास्तव में य और व के उच्चारण में वैदिक काल में कुछ भेद था, जो बाद में प्राकृत ने अपनाया। सम्भवतः यही विभिन्न उच्चारण वाला य (य अर्द्ध स्वर नहीं) ज में परिणत हो गया। इसी प्रकार व का उच्चारण भी विशेष रूप से गुरु था।[2] ब के इसी गुरु उच्चारण का विकास ब रूप में हुआ होगा। गढ़वाली में य और व के ये दोनों रूप मिलते हैं यस, जिऊरा (यमराज), जम्म (यम), यनि, बल्द (बलीवर्द), बन (उगने), बदना (वेदना)। जहाँ य और व अर्द्ध स्वर की तरह उच्चारित होते हैं वहाँ व या तो सुरक्षित मिलते हैं या य इ, व उ ए रूप में परिवर्तित। किन्तु अपने दूसरे विकास में (जिसमें वे व्यंजन ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं) वे ज और ब हो जाते हैं। इसके विपरीत ज के य रूप में परिणत होने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं लाजा >लाया, राजन >राया, राऊ। य भी कभी व रूप में परिणत हो जाता है, जैसे न्याय >न्याव >न्यो। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। (पिशल, अनु० २५४)।

अरबी फारसी और उर्दू के प्रभाव से क़, ख़, ग़, ज़ आदि का बिन्दीयुक्त उच्चारण आज हिन्दी में सुपरिचित है किन्तु कई पर्वतीय भाषाओं के अध्ययन से इस विषय पर नया प्रकाश पड़ता है। परिनिष्ठित गढ़वाली में तो नहीं किन्तु रवाल्टी और जौनपुरी बोलियों में इस प्रकार के उच्चारण मिलते हैं और इस कोटि की अरबी फारसी ध्वनियों के अतिरिक्त भी कई और ध्वनियों पर भी ऐसे उच्चारण का आरोप मिलता है। ये ध्वनियाँ हैं—क़ ख़, ग़, घ़ छ़, और ज़। किन्तु वस्तुतः यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो इनका उच्चारण रवाल्टी या अन्य पर्वतीय बोलियों में विदेशी उच्चारण जैसा नहीं है। इस प्रकार का उच्चारण आदिवासियों में व्यापक है। पर्वतीय बोलियों में यह उच्चारण उन्हीं के प्रभाव से आया होगा। विदेशी उच्चारण से यह सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिए ग़ ग और घ के बीच का उच्चारण है। ग़ का उच्चारण करते हुए जीभ का अग्र भाग चपटा करके दाँतों के मूल की ओर झुकाना पड़ता है और उसमें ऊष्माक्षरों की भाँति सिस्कार का आभास मिलता है। इस प्रकार यह उच्चारण महाप्राणघोष उच्चारण है। इसी प्रकार ख़ श्वसित अघोष, संघर्षी, तालव्य, स्वरयन्त्रमुखी ध्वनि है। घ़ और छ़ का उच्चारण भी इसी प्रकार होता है जिसमें कठोर सीत्कार की

[1] डॉ० चटर्ज्या, राजस्थानी भाषा, पृ० २४
[2] डॉ० व्यास संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १९४

ध्वनि सुनाई देती है क्योंकि इनके उच्चारण में मुँह खुला रहता है और श्वास वायु को तेजी से निकलना पड़ता है। इस प्रकार इन ध्वनियों का उच्चारण बस, छत में ढलता हुआ प्रतीत होता है। शिमला कांगड़ा कुल्लू (पश्चिमी पहाड़ी) की कई बोलियाँ, अंशत नेपाली गढ़वाली की खाल्टी उपबोली बागड़ आदि में यह उच्चारण पाया जाता है। संभवत बागड़ी और देहात की गुजराती में भी इस प्रवृत्ति के किंचित् दर्शन होते हैं।

व्यंजनों की उत्पत्ति

मध्य पहाड़ी की व्यंजन ध्वनियों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है

क ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क से,
कदम<कदम कड़ाळो<कदरिका।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क और कृ से,
केमु<कमुक, कुरोध<क्रोध, किमाण<कृपाण, विकट<विकृत।

(३) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्क और ष्क से
कांद<स्कंद चोक<चतुष्क।

(४) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ल्क और त्क से
बक्कल<वल्कल, छिक्कल<शतकल।

(५) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क्ष से,
भीक<भिक्षा सीक<शिक्षा।

ख ध्वनि की व्युत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ख् से,
खल्याण<खलस्थान खर<खदिर।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क्ष से,
खेप<क्षेप पाखो<पक्ष काख<कक्ष खारो<क्षार, खेम<
क्षेम आखर<अक्षर चोखू<चोक्ष खीन<क्षीण।

(३) स्वराघात युक्त क से,
खुड़ो<कूट पाखड़ो<प्रकोष्ठ, खोळ<कलि।

(४) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ष् से
विखान<विषुवत दोख<दोष, बखा<वर्षा भाख्या<भाषा,
बिख<विष, निखिद<निषिद्ध, पाखड<पाषण्ड।

(५) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्क, ष से,
खांद<स्कंद, काखड़ी<ककटी।

ग ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० भा० के ग, ग से,
गाहू<गोह्प, सोंगो<सुगम, सग<स्वग, गाँ<ग्राम, गास<ग्रास
गैहु<ग्राहक।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के ग से,
आगळ<अगला, गागर<गगर।

(३) ग्न तथा ग्य से,
लाग<लग्न, आग<अग्नि, नांगो<नग्न, तथा भाग<भाग्य,
जोग<योग्य।

(४) प्रा० भा०, आ० भा० की ज ध्वनि के उच्चारण परिवर्तन से,
ग्यान<ज्ञान, जग्य<यज्ञ।

(५) प्रा० भा० आ० भा० के क् से
सुगर<शूकर, कागा<काक, अगास<आकाश, गाजल<कज्जल
लोग<लोक, डागीण<डाकिनी, गुद्दाल<कुद्दाल।

(६) प्रा० भा० आ० भा० के क्ष से,
पग्ख<पक्ष, रागस<राक्षस, जग्ख<यक्ष, मोग्ख<मोक्ष, विरग्ख<
वृक्ष, रग्खा<रक्षा।

(७) जब न् अथवा स ध्वनि के पूर्व अनुस्वार होता है तो उसके साथ ग
ध्वनि भी सुनाई देती है जैसे, सग्सार (संसार), बग्स (वंश), चागस
(अंग्रेजी चान्स)।

घ ध्वनि का मूल

(१) प्रा० भा० आ० भा० तथा म० भा० आ० भा० के घ से,
घूटणू<म० भा० आ० भा०√घुट, घाम<घर्म, घ्यू<घृत, बाघ
<व्याघ्र।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के द्घ से,
उघाड़णो<उद्घाटन।

(३) ग् के आगे हकार के अपसरण से,
घर<गृह, घॅटुहा<गृह-नीड।

च ध्वनि का मूल

(१) प्रा० भा० आर्यभाषा के च् से
चौंर>चमर, चिरण चरण, काच<काच, चाख<चक्षु।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के त्य, छ, च्छ से
नाच<नृत्य, मलीच<म्लेच्छ, सच<सत्य।

छ ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आर्यभाषा के छ से,
छत्तर<छत्र,छेणी<छेदनिका छमना>छलना,छानी>छादनिका।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के श् से,
छेमी<शिम्बा, छछर<शनिश्चर।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के ष से
माणछो<मानुष, मारछो<मारिष।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के श्च से,
पाछ<पश्च, बिछी<वृश्चिक, छछर<शनिश्चर।

(५) प्राचीन भा० आ० भा० के क्ष से,
छालणो<प्रक्षालन छिमा<क्षमा, छुधा<क्षुधा, छिन<क्षण,
लछन<लक्षण आदि।

(६) प्रा० भा० आ० भा० के त्स तथा प्स से,
उच्छो<उत्सव, बाछलो<वत्सरूप, माछो<मत्स्य, तथा आछरी
<अप्सरा।

ज ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० भा० के ज् से
जनम्<जन्म ज्यू<जीव जोत<ज्योति भौज<भ्रातृजाया।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के द्य से,
उपाजू<उत्पाद्य खाजो<खाद्य,बाजो<वाद्य आज<अद्य।
अभींज<म० आ० भा० अभेज्जा<प्रा० आ० भा० अविद्या।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के ज्व तथा ज्ज्व से,
जर<ज्वर उजालो<उज्ज्वल।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के य तथा य्य से,
सजोग<संयोग, सैज<शय्या कारज<कार्य।

(५) प्रा० भा० आ० भा० के ध्य से,
साझा<सन्ध्या मझे<मध्ये, सुजणो<शुध्य—, अलमणो<अवरुध्य,
बाँझा>वन्ध्या।

झ की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० भा० की झ ध्वनि से,
झट (झटिति)।

झ वास्तव में अप्रधान ध्वनि है। इस ध्वनि के अधिकांश शब्द देशज हैं और अपने मूल में अनुकरणात्मक अथवा ध्वन्यात्मक हैं। कुछ शब्द इस दृष्टि से दर्शनीय हैं

झुसमुस (उषा) झकझक, झटको, झम, झुमलो झूमक, झिमझिम झन झन, झोड, झट झयामू झर, झाडणो, झर झावी, झूर, झमाको झिलमिल आदि।

शब्द के मध्य म इस ध्वनि का प्रयाग बहुत कम होता है। बहुधा मध्य तथा अन्त की झ ध्वनि अल्पप्राण होकर ज म परिणित हो जाती है।

(२) स्वराघात के कारण ज के महाप्राणीकरण से,
ज्वाला < झळ, झणो < जन आदि।

ट ध्वनि की उत्पत्ति

(१) सस्कृत के ट, टव टय ष्ट म
खट्टलो < खटवा टुटी < त्रुटय नाठ < नष्ट।

(२) प्रा० भा० आ० भा० का ष्ठ ध्वनि से
कोष्ठक < कोट, साट्टी < पाष्ठिक, ढीट < दृष्टि, सेँट < श्रेष्ठ।

( ) प्रा० भा० आ० भा० क ठ से अल्पप्राणित होकर,
हाट < ओष्ठ, पाट < पाठ सटट < शठ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के त तथा त से,
निबटणा < निवत्त विवट < विकृत, काटणो < कतन।

(५) प्रा० और म० भा० आ० भा० के य अथवा स्थ से
जाट < म० भा० आ० भा० जुत्य < यूथ।

(६) प्रा० भा० आ० भा० के टट से
अटाली < अटटालिका, कुटणयाटी < कुटटनी, पाटण < पटटन,
हाट < हटट।

ठ ध्वनि का मूल

(१) प्रा० भा० आ० भा० के स्त, स्थ से
पठाल < प्रस्तर ठौं < स्थामन, पठौणा < प्रस्थान, ठुलो < स्थूल,
कटठा < एकस्थित।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के ष्ठ तथा ष्ट से,
काठगो < काष्ठक, कोठार < कोष्ठागार, निठूर < निष्ठुर, गोठ <
गोष्ठक, पूठा < पुष्टा , अठ < अटठम < अष्ट।

(३) प्रा० भा० आ० भा० की न्थ ध्वनि से,
माठो < मन्थर, गाठो < ग्रथ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० की घ तथा द्ध ध्वनि से, यथा,
वठया > वद्या, वाठो > वद्ध।

ड ध्वनि का मूल

(१) प्राचीन भारतीय आयभाषा के ड से,

मुडारा < मुडारि, डण < डाकिनी।

(२) प्रा० भा० आ० भा० क ट त से,
काठो < कटक। इस अवस्था मे यह ध्वनि ड रूप म अधिक मिलती है जसे, पुड्लो < पुटक, कूडी < कुटी, लाम्डो < लकुट, कीडो < कीट, चडा < चिपिटक अखोड < अक्षोट तथा मडो < मत। सापडो < सपुट भड < भट किंतु पड़ुगा < पटक।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के ड से
पूडो < पुड़

(४) प्रा० भा० आ० भा० के थ स,
टट (घट) < तत्र,

(५) प्रा० भा० आ० भा० के ठ द, ड ध से,
बँड < बठ, खुडो < कुठिन, डांड > दड।
डांस > दशक, रूड > रूढ़ बाड > बाधा, गाड > गाध।

ढ़ ध्वनि की व्युत्पत्ति

(१) प्राचीन आय भाषा के ढ, द से
ढाई (ग्यि अद्ध तृतीय), डेढ़ (द्वि अद्ध) बढ़णा (वधन) आदि।

ट वर्गीय ध्वनियाँ गढ़वाली म बहुत सीमित हैं। महाप्राण ध्वनियाँ तो वस भी अल्पप्राण हो जाती हैं। ढ तथा ढ़ तो अति अप्रयुक्त ध्वनियाँ हैं। य प्राय ड तथा ड़ में ही परिणत हुई मिलती हैं। अधिकाश ट वर्गीय ध्वनियाँ अनुकरणात्मक हैं और ध्वनि अथवा अनुभूति के ककश पक्ष को व्यक्त करती प्रतीत होती हैं। यहाँ कुछ शब्द दिए जा रहे हैं

टटाटर (कमनम्य), टक (लालसा) टणी (तज पीडा) टिप्पम (सम्पक) टरटरो (अस्पाष्ट) ठमठम (ठुमकता), ठसाक (हल्का स्पश) ठेमाम (गव), ठेमण्या (बौना) ठडठक, ठनठन ठप (रुकना) ठुरणा (ऊचाई से गिर पडना), डम्क, डमाक (आघात), डिमडिम डमडम। य शब्द वास्तव म भाषा निर्माण की प्रारम्भिक प्रवत्ति का द्योतन करते हैं।

गढ़वाली म ण का प्रयोग पर्याप्त मात्रा म मिलता है। किसी शब्द का प्रारम्भ ण स नही होता किन्तु मध्य और अत म न क स्थान पर ण होने की प्रवत्ति मिलती है किन्तु इसके अपवाद भी हैं। यह प्रवत्ति प्राकृत और अपभ्रश म भी सामान्य थी।

त ध्वनि का मूल

(१) प्रा० भा० आ० भा० के त से, जस
तामो < ताम्र, ताँत < तन्तु, मुरत्या < मृत्य, तळा < तल।

(२) प्राचीन भारतीय आयभाषा क त्र स

दानी < नाप्त्रिका, रौतला < राजपुत्र + ल, गात < गात्र ।

(३) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क्त, तथा प्त से,
भात < भक्त, रीतो < रिक्त, सातु < सक्तु, सूता < सुप्त,
नाती < नप्तृक, ताता < तप्त ।

(४) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के त्र तथा त्त से,
बातलो < बत्तल, वात < वार्ता, चौंत < आतप, उदमाता < उन्मत्त
प्रभूत < प्रत्युत्तर, उताणा < उत्तान, बित < वृत्त ।

(५) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के थ तथा द से,
यवात < यवाथ, सतभी < सद्भाव, पतरवाण < पदत्राण ।

थ ध्वनि का मूल

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की स्थ या स्त ध्वनि से, यथा,
थिर < स्थिर थान < स्थान, थो < स्थ, थल्लो < स्थूल,
थेल < स्थविर, मथ < मस्तके, नाथि < नास्ति, आथि < अस्ति,
थण < स्तन, थुप + डो < स्तूप ।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की थ, त और त्र ध्वनि से,
यथों < यात, अमिथ्या < अमित, कौथीक < कौतुक,
दायडा < दात्र, यत्र < यत्य, सथ < सवत्र, अथ्य < अन्यत्र ।

द ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के द से,
दिआ < दीप, दुब + नो < दूर्वा ।

(२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के त से,
सगरांद < सङ्क्रान्ति, उगरांद < उत्क्रान्ति ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के द्र तथा द् से,
दाण < द्राण, कादा < कोद्रव, उणदो < उनिद्र, छेद < छिद्र,
करौंदा < करमर्द आद < आर्द्र ।

(४) अल्पप्राणित होकर ध से,
अपराद < अपराध, ब्याद < व्याधि, औखदा < औषधि,
सुद् < सुधि, दूद < दुग्ध, दुदलो < दुग्धल ।

(५) प्रा० भा० आ० भा० के द्द, द्य तथा द्ध से,
मदा < मद्य, नवेद < नवेद्य, दन्द < द्वन्द्व, सराद < श्राद्ध ।

ध ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ध् से,
धामा < म० आ० भा० धम्मिया < धार्मिक
धुवां < धूम्र, धमेली < धम्मिल, धुमैलो < धूमिल ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० की द्ध ध्वनि से
वृध < बुद्धि, बिरधी < वृद्धि।

(४) ह् अनुगामी द तथा ध्व से,
धिया < दुहिता, धुजा < ध्वजा, धुन < ध्वनि।

प् ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के प् से,
पात < पत्र, पौर < पूर्व, परफूल < प्रफुल्ल, तिरपत < तप्त।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के प्र से
पसारणो < प्रसारण, प र < प्रहर, पगार < प्राकार।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के व अथवा व्य से
दिप्प < दिव्य, सपत < सवत्।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के त्म, प्य, र्प से यथा
आपडो < आत्मन रुपा < रौप्य, दाप < दर्प।

फ ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के फ तथा स्प, स्फ, त्फ से,
फल < फल फट < स्पष्ट फिलगारो < स्फुलिंग,
फटिग < स्फटिक तथा उफाळ < उत्फाल।

(२) प, प्प तथा प्र के महाप्राणत्व से
पिफ्ल < पिप्पल फरपच < प्रपंच फरशा < परशु।

ब ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० भा० के व तथा व्य से जैसे,
बूध < बुद्धि बीग < व्यग, बिथा < व्यथा, बखाण < व्याख्यान,
बळ < वेला, जीव < जिह्वा।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के मध्यग प से,
बवासी < वर्षासी, ब्यवरी < व्यापारी, अव्यामान < अपमान,
रुबमी < रूपमि भावत < भ्रातपुत्र।

(३) प्राणहीन भ से
गाबणी < गर्भिणी गायो < दम्भ गाबो < गर्भ।

(४) द्व व से
बामण < ब्राह्मण, दूबलो < दूर्वा।

भ ध्वनि की उत्पत्ति

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के भ् से
भात < भक्त, भट < भट भैर < भरव।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के व् के महाप्राणीकरण से,

भेतु < वस्तूक भर < बहिर, भगजीर < वनजीर।

शेष ध्वनिया अपने उदगम म संस्कृत क ही समान हैं। र और ल परस्पर सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार ल और ळ भी। गढवाल के कुछ भागा म ग, ष < स हो जाते हैं, वहीं इसके विपरीत स और ष भी श रूप म ही मिलते हैं। ज > य क भी कुछ उदाहरण मिलन हैं जस, प्रजाल > पयार राजुक > रायुक > रैंक। ह ध्वनि ट, र, त्स से भी व्युत्पन्न हुई उपलब्ध होती है कुटी > कड़ी वत्स > बॅछ तूप > म० आ० भा० तुर > तोहो।

गढवाली म ङ ञ ण, म, न आदि अनुनासिका म ङ और ञ का अभाव मिलता है। उनका स्थान या तो अनुस्वार न या ग य जैसी ध्वनिया ने ल लिया है। ण् गढवाली म बहुप्रयुक्त ध्वनि है। प्रारम्भ के न को छोडकर मध्यग और अत्य न कुछ अवस्थाओ मे ण म परिवर्तित हुआ मिलता है किन्तु यह कोई सव सामान्य नियम नही है। न ध्वनि आरम्भ म सुरक्षित मिलती है जस नाती, नगर नाश। मध्यग और अत्य न क कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—बचुन < बचन भजन, मनखी < मनुष्य। महाप्राण ध्वनिया ऊष्म वर्णों तथा स्वराघात और द्वित्व तथा रफयुक्त वर्णों क बाद का न प्रायः ण म परिवर्तित मिलता है कठण < कठिन, फेण < फेन बादण < बधन उत्ताणो > उत्तान। ण > न क उदाहरणा का अभाव है। अत्य न तथा मध्यग म प्रायः अनुस्वार म परिवर्तित हुए मिलत हैं उद्दीपन > उदयों उदीऊँ समत > स्यू। प्रारम्भ का म मध्य सुरक्षित रहता है। सयुक्त वर्ण क रूप म भी म अपना अस्तित्व बनाये रखता है

(१) म < म्ब

कुटम < कुटुम्ब, कामळो > कम्बल, सामळ > सम्बल

(२) म < क्म

खामो < रुक्म कुमोर < कुम्भकार।

(३) म < ग्न, म म

घाम < घर्म घाम > घम, मैंडा > मत।

व्यंजन परिवर्तन के रूप

गढवाली म व्यजन परिवर्तन के रूपों म कोई नवीनता नहीं है। अधिकाश परिवर्तन प्राकृत और अपभ्रंश के अनुरूप ही मिलने हैं। गढवाली म व्यजन परिवर्तन की कुछ प्रमुख विशेषताए इस प्रकार हैं

१ आदि व्यजन प्रायः सुरक्षित मिलता है। शब्द म होने वाले आन्तरिक परिवर्तन का उस पर प्रभाव पडता है और वह (विशेषत ऊष्म ध्वनियों क कारण) महाप्राण हो जाता है जसे वस्तुक > भेतू परशु > फसा पाश > फास। इस प्रकार का महाप्राणीकरण कभी स्वराघात क कारण भी हुआ है कुठा > खुडा प्रपच >

फरपच, ज्वल>भळ जा >मणा कथा>खना।

२ आरम्भ का स किसी अन्य वर्ण से संयुक्त होने पर प्रायः लुप्त हो जाता है स्थान>थान, थिर>स्थिर, स्थ>थो, स्थूप>थूप स्तोक>तोक। स्कम>खम, खामो। श्मशान>मसाण, स्तीमित>तीम्ो।

३ प्रारम्भ का श या स कुछ शब्दों मे छ रूप म परिवर्तित मिलता है। वास्तव मे छ श का विकसित रूप है। छ और श का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह पाणिनी के सूत्र शश्छोटि से स्पष्ट है।[1] गढ़वाली म छ का उच्चारण स या श म बदलना भी मिलता है। लोग छाँछ को छाँस बहुत मिलते हैं। श>छ के कुछ रूप इस प्रकार हैं शिम्बा>छेमी श्मशान>छौं, सुधा>छोई, शल्कल>छक्कल शनिश्चर>छछुर।

४ आरम्भ का क्ष ख और छ रूप म मिलता है क्षेत्र>खत क्षत>खत खनेणू क्षम>खेम क्षमा>छिमा क्षत्र>छत्तर।

५ आरम्भ के दन्त्य वर्ण कभी मूर्धन्य बने मिलते हैं जैसे दण्ड>डाड, दशन >डसणा दष्टि>डीट दुहिता>ड्योंगी स्थूल>ठुला तुम्बरु>टेम्रु, दाह> डा', दोन>डाला। मध्य और अन्त का स ड म परिवर्तित हो जाता है मतक >मँडा पवत>पँड। उसी प्रकार ट वर्गीय ध्वनियाँ ळ रूप म मिलती हैं दाडिम (दालिम)>दाळिम। नाट>न ळ।

६ कई शब्दों म प्रारम्भ म य ध्वनि ज म परिवर्तित हो जाती है और इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

७ आरम्भ का अघोष महाप्राण स्पृष्ट ध्वनियाँ जैसी-की-तैसी सुरक्षित रहती हैं।

८ मध्य व्यजन या तो ज्यों-का-त्यों रहता है या बदल जाता है और बहुत कम परिस्थितियों म लुप्त हो जाता है। गढ़वाली म व्यजन लोप के उदाहरण अधिक नहीं हैं। जो शब्द मिलते हैं व प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा म हैं नारो<नगर दई<दवी सेलू<शीतल गणा<गगन, पयाल<पाताल। वास्तव म मध्यवर्ती क ग ज, त प व का लोप प्राकृत म होने लगा था। श्रुति सुख के लिए मध्यग प प्राकृत म व होकर गढ़वाली म व हो जाता है। कहीं वह उ रूप म पूर्व स्वर से मिलकर लेता है कार्पासी>कपासी दाप>ढिक धारय>सौं अपुत्र>औनो। दनापर>दसौर घट्टपात>घटवाळा। यही नहीं गढ़वाली का य भी कभी व हुआ मिलता है दिव्य>दिव्व। मध्य का म प्राकृत और अपभ्रंश म वँ रूप म मिलता है किन्तु गढ़वाली म वह उँ बनकर पूर्व स्वर स आ औ रूप म मिल जाता है कमल>कौंल यमुना>जौंन्या। व का अन्तस्थ ध्वनि को इस नियम की अपवाद नहीं है। वास्तव म मध्यग व के ह्रस्व

[1] डॉ० हरदेव बाहरी लहँदी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन पृ० १९५

की प्रवृत्ति का प्रारम्भ अपभ्रंश काल में ही हो गया था। व्यंजन लोप के कुछ और उदाहरण इस प्रकार हैं

राजा > राउ, ज्योतिषी > जोशी
घृत > घिउ, भूमि > भुइ
नगर > नैर, नल   नूपुर > पूरो
रजनी > रण, सहोदर > साबँरा
मुकुट > मौड, मौर
युवति > जोइ
विभान > विहान > ब्याणू
राजुक > रव

९ मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ ध्वनियाँ प्राकृत और अपभ्रंश में ह रूप में विकसित हुई मिलती हैं। गढ़वाली में भी कई शब्द इस परम्परा का निर्वाह करते हैं। यही नहीं विकास के अगले स्तर पर उनमें हकार का भी लोप मिलता है बधिर > बैरो, खदिर > खैर, गम्भीर > गैरो, जभीर > जैमर।

१० मध्य अघोष अल्पप्राण सघोष अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। गढ़वाली में मध्यग क प्रायः ग होकर ही रहता है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति थी। संस्कृत में भी कुछ परिस्थितियों में (विशेषतः संधि में, दिक् + गज = दिग्गज) क ग हो जाता है। गढ़वाली में और भी रूप दर्शनीय हैं डाकिनी > डागिन आकाश > आगास रक्त > रगत, शाक > साग, वर्षाकाल > बसगाल। ट ड > ड कण्टक > काण्डो कुटी > कूडी, भट > भड, घट > घाड, कर्कोटक > ककोड़ा। थ > द याथा > बाद। त > द चलति > चलदा। द और ध कहीं ठ रूप में भी रूपान्तरित हुए हैं वद्ध रखाली में—बाठो, पुरानी गढ़वाली में बाठा, वधा > बठया, बाठीण।

११ सघोष वर्ण गढ़वाली में अघोष नहीं होते। यह चूलिका पैशाचिका या दरद की प्रवृत्ति रही है। पर कुछ शब्द ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, विशेषतः अरबी-फारसी के शब्द, जिनमें द > त रूप विद्यमान है परवाण > पैनरवाण, मदद > मदत जायदाद > जैजात अथवा मददगार > मताणचार।

१२ अन्तिम अधस्वर य और व का प्रायः लोप होकर पूर्व व्यंजन पूर्ण हो जाता है सत्य < सक्क, पुष्प > पुन तत्त्व > तत्त, द्वन्द्व > दद। य जब तवर्गीय ध्वनियों के साथ संयुक्त होता है तो उसका रूप बदल जाता है त्य > च, छ, ध्य > ज खाद्य > खाजा, छाद्य > छाओ क्षिपन > छिपण मध्य > मज, नृत्य > नाच। यह प्रवृत्ति वास्तव में बहुत प्राचीन है।

१३ गढ़वाली की प्रवृत्ति द्वित्व व्यंजनों के संरक्षण की ओर नहीं है। प्रायः दो में से एक ध्वनि का लोप हो जाता है जैसे उद्घाटन > उघाडना, मत्त > मात,

फरपन, ज्वल>भळ, जन>भणा कथा>खता।

२ आरम्भ का स किसी अन्य वर्ण से संयुक्त होने पर प्राय लुप्त हो जाता है स्थान>थान, स्थिर>थिर, स्थ>थो, स्तूप>थूप, स्तोक>तोक। स्कम>खब, खामा। श्मशान>मसाण, सीमित>तीन्दो।

३ प्रारम्भ का श या स कुछ शब्दों में छ रूप में परिवर्तित मिलता है। वास्तव में छ श का विकसित रूप है। छ और श का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह पाणिनी के सूत्र शश्छोटि में स्पष्ट है।[1] गढ़वाली में छ का उच्चारण स में बदलता भी मिलता है। लोग छाछ को छांस कहते मिलते हैं। श>छ के कुछ रूप इस प्रकार हैं शिम्बा>छेमी स्नान>छों, सुधा>छोई, शल्कल>छकल, शनिश्चर>छछर।

४ आरम्भ का क्ष ग और छ रूप में मिलता है क्षेत्र>खेत क्षत>खत खतेणू क्षेम>खेम क्षमा>छिमा क्षत्र>छत्तर।

५ आरम्भ का स्पर्श वर्ण कभी मूर्धन्य बने मिलते हैं जैसे दण्ड>डांड दशन>डमणो दृष्टि>दीठ दुहिता>ड्यांगी, स्थूल>ठुलो तुम्बक>टेमरू, दाह>डा', शैल>डाला। मध्य और अन्त का ल ड में परिवर्तित हो जाता है मलक>मॅडो पवत>पड। उसी प्रकार ड वर्गीय ध्वनियां ळ रूप में मिलती हैं दाडिम (दालिम)>दाळिमा नष्ट>नळ।

६ कई शब्दों में प्रारम्भ में य ध्वनि ज में परिवर्तित हो जाती है और इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

७ आरम्भ की अघोष महाप्राण स्पृष्ट ध्वनियां जैसी की-तैसी सुरक्षित रहती हैं।

८ मध्य व्यंजन या तो ज्यों का त्यों रहता है या बदल जाता है और बहुत कम परिस्थितियों में लुप्त हो जाता है। गढ़वाली में व्यंजन लोप के उदाहरण अधिक नहीं हैं। जो शब्द मिलते हैं वे प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में हैं नारो<नगर, देई<देवी सलू<शीतल गणा<गगन, पयाल<पाताल। वास्तव में मध्यवर्ती क ग ज, त प व का लोप प्राकृत में होने लगा था। श्रुति सुख के लिए मध्यम प प्राकृत में व होकर गढ़वाली में व हो जाता है। कहीं वह उ रूप में पूर्व स्वर से मिलकर लेता है कार्पासी>कवासी दीप>दिऊ, दाप्य>सौं अपुत्र>औनो। दशापर>दसोर घट्टपाल>घटवाळा। यही नहीं गढ़वाली का य भी कभी प हुआ मिलता है द्विप्य>दिप्प। मध्य का म प्राकृत और अपभ्रंश में वँ रूप में मिलता है किन्तु गढ़वाली में वह उँ बनकर पूर्व स्वर से ओ औ रूप में मिल जाता है यमल>जौंल, यमन>जौंल्या। व का अन्तस्थ ध्वनि भी इस नियम की अपवाद नहीं है। वास्तव में मध्यग व के ह्रस्व

[1] द्रष्टव्य संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन पृ० ११५

की प्रवृत्ति का प्रारम्भ अपभ्रंश काल से ही हो गया था। व्यंजन लोप के कुछ और उदाहरण इस प्रकार हैं

राजा > राउ, ज्योतिषी > जोगी
घन > घिउ, भूमि > भुइ
नगर > नैर, नल, नूपुर > नूरी
रजनी > रण, सहोदर > सार्अरो
मुकुट > मौड, मौर
युवति > जोइ
विमान > विहान > ब्याणू
राजुक > रव

९ मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ ध्वनियां प्राकृत और अपभ्रंश में ह रूप में विकसित हुई मिलती हैं। गढ़वाली में भी कई शब्द इस परम्परा को निभाते हैं। यही नहीं, विकास के अगले स्तर पर उनमें हकार का भी लोप मिलता है बधिर > बरो खदिर > खर गम्भीर > गरो अभीर > अमर।

१० मध्य अघोष अल्पप्राण सघोष अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। गढ़वाली में मध्यग क प्रायः ग होकर ही रहता है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति थी। संस्कृत में भी कुछ परिस्थितियों में (विशेषत संधि में, दिक + गज = दिग्गज) क ग हो जाता है। गढ़वाली में और भी रूप दर्शनीय हैं डाकिनी > डागीण, आकाश > आगास रक्त > रगत, शाक > साग, वर्षाकाल > बसगाल। ट ड > ड घट > घाडा, कुटी > कूडी, भट > भड पट > पाड, कर्कटिक > ककोडा। थ > ड बाधा > बाड। त > द चलति > चलदी। द और ध कहीं ठ रूप में भी रूपान्तरित हुए हैं बद्ध रवाल्टी में—बाठा पुरानी गढ़वाली में बाठा, बद्धा > बठ्या, बाठीण।

११ सघोष वर्ण गढ़वाली में अघोष नहीं होते। यह चली पैशाचिका या त्वरद की प्रवृत्ति रही है। पर कुछ शब्द ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, विशेषत अरबी फारसी के शब्द, जिनमें द > त रूप विद्यमान है पर्दाण > पतरयाण, मन्द > मन्त, जायदाद > जदात अथवा मदनाचार > मताणचार।

१२ अंतिम अधस्वर य और व का प्रायः लोप होकर पूर्व व्यंजन पूर्ण हो जाता है शक्य < सक्क पुण्य > पुन, तत्त्व > तत, द्वन्द्व > दद। य जब तवर्गीय ध्वनियों के साथ संयुक्त होता है तो उसका रूप बदल जाता है त्य > च, द्य, ध्य > ज खाद्य > खाजो खाद्य > धाजो, लिखते > लिखच मध्य > मज, नृत्य > नाच। यह प्रवृत्ति वास्तव में बहुत प्राचीन है।

१३ गढ़वाली की प्रवृत्ति द्वित्व व्यंजना के संरक्षण की ओर नहीं है। प्रायः दो में से एक ध्वनि का लोप हो जाता है जैसे उद्घाटन > उघाडनो, भक्त > भात,

सुप्त >सूता, पुष्टा >पूठा, राष्ट्र >राठ, नस्त >नात, नथ पञ्च >पाछ। म्ब मे केवल म ही शेष रहता है, कुटुम्ब >कुटम, उम्बी >ऊमी। परिवर्तन की इस अवस्था में पूर्व व्यजन प्राय दीर्घ हो जाता है।

१४ शब्द के मध्य और अत मे महाप्राण ध्वनियाँ प्राय अल्पप्राण हो जाती हैं। प्राय आद्य अक्षर अल्पप्राण नहीं होता अत्य और मध्यग अल्पप्राण होकर ही रहते हैं। गढवाली ध्वनि तत्व की यह एक सामान्य विशेषता है।

१५ सयुक्त व्यजन क्ष कहीं ग च्छ, छ और कहीं ख रूप म आता है राक्षस >रागस, यक्ष >जाख, रक्षा >रच्छा क्षार >छार, छारो। अपनी मूल ध्वनि षप (ख) रूप म वह सर्वाधिक मिलता है।

१६ रेफ रूप म र सयुक्त व्यजनो के साथ प्राय सुरक्षित मिलता है। अधिकांश शब्दो म वह अपना पूरा रूप ले लेता है किरिया, करम, कारज कारिया ममोदर, पवेत्तर, पराण, मुरछा सरग चातुर। र के लोप के कुछ ही उदाहरण मिलते हैं जैसे पणो <प्रदान, पासणी <प्राशन, दोण <द्रोण, पाथो <प्रस्त पगार < प्राकार। द के साथ सयुक्त र ल हो गया है आद्र >आलो, भद्र >भला। उसी प्रकार त के साथ—अन्यत्र >अण्य सवत्र >सग्य यत्र >यत्थ शब्दो म वह थ हुआ मिलता है। यही नहीं गढवाली म र के आगम के भी कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं—कूष्मांड तिरकंडा भोजन भारजन विद्वेष विरदोसो उदूखल उरख्यालो। वास्तव म र का आगम प्राकृत म था और बाद म अपभ्रश म भी उसका अभाव न था। प्रणाम धन आदि शब्दों म प्रयुक्त र अर् बन गया है—परणाम पर्णाम तथा धन।

व्यजनागम

व्यजनागम के कुछ उदाहरण स्वर के सम्बन्ध म विचार करते हुए दिए गए हैं। गढवाली शब्दो म व्यजनागम प्रारम्भ मध्य और अन्त तीनों रूपो म हुआ है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

अभ्यास >हबास हव्यास
इक्षु इख्यु >निक्यु
ईर्ष्या रीस
यष्टि >छट्टी

वस्तुत आदि व्यजनागम की सभावना कम रहता है किन्तु उच्चारण सौकर्य के कारण उसका सर्वथा अभाव भी नहीं होता, जैसे कि ऊपर के उदाहरणो स स्पष्ट है। मध्य व्यजनागम के कुछ उदाहरण ये हैं

उलूखल >उरूखल >उरख्यालो
दधि >दवळेस

मार्जन > मारजन
उच्छ्वास > उकसास, उक्सासी
मकाल > सनक्वाळ,
विद्वेष > बिरदाणो

अन्त में व्यंजनागम के अधिक उदाहरण नहीं मिलते किंतु वे विरल नहीं

मनुष्य > मनख्यारो
स्फुलिंग > फिरगारा

वर्ण विपर्यय

वर्ण विपर्यय के कुछ रूप इस प्रकार हैं

कर्णधार > धुनार
गुच्छ > गुक्सो
आतप > बात
ग्रहण > हरगण
उरग > गुरौ
विलग्न > विलग > बेगळे णू
गुम्फिनी > लगुली
भार्या > जिया
विनार > बिराळो
बादल्य > बल्दयू
पिपास > पिच्चास

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गढवाली में व्यंजन परिवर्तन के रूप प्राकृत और अपभ्रंश से भिन्न नहीं हैं। इतना अवश्य है कि कुछ प्रवृत्तियां के अब गढवाली में अवशेष मात्र रह गए हैं। व्यवहार में अब व कम रह गई हैं। उदाहरण के लिए व्यंजन लोप की प्रवृत्ति गढवाली में नहीं है। संयुक्त व्यंजनों में व्यंजन-लोप की अपेक्षा स्वर भक्ति से अधिक काम लिया जाता है। उसी प्रकार दन्त्य वर्णों के मूर्धन्य बनने, तवर्गीय ध्वनियों का ज में परिणत होने आदि की विशेषताएँ गढवाली में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की तरह व्यापक नहीं हैं। गढवाली में घोष महाप्राण ध्वनि मध्य और अन्त में अल्पप्राण हो जाती है। प्राकृत या अपभ्रंश के लिए यह बात महत्त्व की नहीं है।

सम्पर्की व्यंजन और समीकरण

गढवाली में दो या दो के संयोग के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ व्यंजनों के सम्पर्क से अंतिम व्यंजन लुप्त हो जाता है, यथा एक दा (एक बार)

सामान्यत य दा बोला जाता है। इसी प्रकार, मास्टरजी >मास्जो, फौजदार > फौंदार, मात पुत्र >भावत, वर्षा-काल >बसगाळ, जांद छौं >जान् छौं, कर दो >कदो।

एक ही शब्द के अन्दर भी वर्णमैत्री के उदाहरण मिलते है। यह वर्णमैत्री प्राय र, ल, न, ण, आदि ध्वनियों में विशेष रूप से हुई है, जैसे, मिलणो >मिन्नो, करणो >कन्नो आदि। इसी प्रवृत्ति के कारण गढ़वाल के कुछ भागो मे जान्द्र, डाण्डा जैसे शब्द जान्न, डाना रूप म उच्चरित होते हैं।

रूप-तत्त्व

संज्ञा के रूप

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के मध्यकालीन विकास में ही संज्ञा के रूपों में परिवर्तन होने लगे थे। गढ़वाली में संस्कृत की अनेक प्रवृत्तियाँ सुरक्षित मिलती हैं किन्तु अन्य नव्य भारतीय भाषाओं की भाँति उसमें भी सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के मध्यकालीन विकास में व्यंजनान्त प्रातिपदिक प्रायः समाप्त हो गए थे किन्तु नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में व्यंजनों की स्थिति बनी रही। गढ़वाली में इसीलिए स्वरान्त और व्यंजनान्त दोनों प्रकार के प्रातिपदिक मिलते हैं। पंचम वर्णों में ञ तथा ङ वाले व्यंजनान्त प्रातिपदिक भी प्रायः गढ़वाली में मिल जाते हैं, जैसे भाइलो, राङ, छूञा आदि।

शब्द को वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य बनाने वाले माध्यमों में प्रत्ययों, उपसर्गों, परसर्गों, शब्द-क्रम और सम्बन्ध-तत्त्व का जो महत्त्व होता है उससे कहीं अधिक महत्त्व प्रातिपदिक अथवा संज्ञा का होता है। गढ़वाली में व्याकरणिक संज्ञाएँ हिन्दी के अनुकूल ही हैं। भाववाचक संज्ञाएँ हिन्दी में प्रयुक्त प्रत्ययों के अनुसार ही बनाई जाती हैं जैसे आट (आहट) बबराट, छनणाट, पो बुढ़ापा, आन मिजान आदि। गढ़वाली प्रत्यय—योळ घस्याळ, उळ आरयूळ, आर मन्यार, एष्टि दानेष्टि आदि।

लिंग

गढ़वाली में दो ही लिंग होते हैं। नपुंसक लिंग नहीं होता। लिंग निर्धारण का आधार मूलतः प्राकृतिक लिंग भेद ही है। इसके अतिरिक्त वस्तु या व्यक्ति में आकार का गुरुत्व अथवा लघुत्व भी लिंग भेद का कारण बना प्रतीत होता है। इस दृष्टि से कभी प्राकृतिक लिंग तथा व्याकरणिक लिंग का अध्ययन बड़ा रोचक है। *उदाहरण के लिए, स्त्री के लिए जनाना तथा जनानी शब्द का व्यवहार होता है।* दोनों शब्द मूलतः एक ही हैं किन्तु जनाना व्याकरण से पुंलिंग है, और जनानी स्त्रीलिंग। जनाना में पुंलिंग का आरोप आदर प्रदर्शन के लिए हुआ है। इसी प्रकार, घरवाली शब्द आदर प्रकट करने के लिए बाना का पुंलिंग रूप धारण कर लेता है, जैसे, बे की घरवाळी (सामान्य), बे का घरवाळा (आदर से)।

उसी प्रकार हिन्दी में बकरा पुलिंग और बकरी स्त्रीलिंग है, किन्तु गढ़वाली में बाखरो बड़ी बकरी और बाखरी छोटी बकरी के लिए कहते हैं। बकरे के लिए बोखट्या (तुलनीय फारसी बोक्कटो) शब्द का प्रयोग होता है। उसी प्रकार गौ स्त्रीलिंग है किन्तु गढ़वाली में गौडो पुलिंग शब्द है। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति थी। हेमचन्द्र ने भी गाउओ, गाओ पुलिंग रूप लिए हैं, जिनके स्त्रीलिंग रूप गउआ और गाई थे। गोणो और गोणी भी इसी तरह के उदाहरण हैं। यही दशा पुलिंग समझे जाने वाले कुछ उभयलिंगी शब्दों की है जिन्होंने गढ़वाली ने अपने लिए स्त्रीलिंग ढूंढ निकाले हैं जैसे आदमीण (आदमी से) मनखीण (मनुष्य से) जणी (जन से)। देवता शब्द संस्कृत में आकर पुलिंग बना, पुरानी गढ़वाली में उसका देवती स्त्रीलिंग मिलता है। गढ़वाल की एक कहावत है—देवती सेवती अपणा घर गै मैंक थकळी लगौणी करी ग। लिंग सम्बन्धी सबसे बड़ी गड़बड़ी आकार की गुरुता और लघुता के आधार पर दो शब्दों लिंगों के रूप में हुई है। उनके साथ जो क्रियाएँ तथा विशेषण प्रयुक्त होते हैं वे भी प्राकृतिक लिंग की अपेक्षा व्याकरणिक लिंग से अनुशासित होते हैं। इसी प्रकार नपुंसक लिंग को भी पुलिंग तथा स्त्रीलिंग में बाँट दिया गया है और उनके भी दो लिंग आकार की दृष्टि से विद्यमान हैं, जैसे, आंसो आंसी लाखड़ो लाखड़ी कूड़ो, कूड़ी आदि।

जीवधारियों के नाम प्रायः उनके प्राकृतिक लिंग के अनुसार होते हैं जैसे गौ स्त्रीलिंग, बल्द पुलिंग। इसी तरह भैंसी स्त्रीलिंग और बाखो पुलिंग।

सामान्यतः बड़े आकार के पशु पुलिंग और लघु आकार के स्त्रीलिंग में ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त आकार सम्बन्धी भेद के कारण एक ही प्राणी के लिए विभिन्न लिंगों का प्रयोग भी होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वास्तव में गढ़वाली का सारा लिंग भेद आकार पर ही आधारित है। बड़े आकार के सभी प्राणी चाहे वे प्राकृतिक रूप में स्त्रीलिंग में ही क्यों न हों उनके लिए पुलिंग शब्द भी विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए भैंसो शब्द पुलिंग है, क्योंकि वह आकार में बड़ा है। भैंसो कहते हुए भी यह कहना जाना जाता है कि भैंसो का प्राकृतिक लिंग स्त्री लिंग है और उसका प्राकृतिक पुलिंग बाखो या झोटा है, किन्तु भैंसो (भैंस) फिर भी आकार की गुरुता के कारण उसके लिए पुलिंग ही है। जब वह भैंसी कहता है तो उसका अर्थ आकार की लघुता से ही होता है, स्त्रीत्व की भावना से कदापि उसका तात्पर्य नहीं होता।

अकारान्त व० व० आकारान्त अथवा उकारान्त शब्द प्रायः पुलिंग होते हैं। यह ओ या ऊ प्रत्यय संस्कृत से आया है जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। किन्तु संस्कृत से आए नपुंसक लिंग के शब्द जब गढ़वाली में आकर पुलिंग बने तो वे सभी ओ या ऊकारान्त नहीं हो सके, जैसे लवणम् > लोण हस्तम् > हात।

अधिकांश इकारान्त तथा संस्कृत के तद्भव आकारान्त शब्द गढ़वाली में भी

स्त्रीलिंग ही होते हैं।

इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि गढ़वाली में पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्द रूप संस्कृत के अनुरूप ही हैं। प्रा० भा० आ० भा० के अ अव, उ, ई इक, उ तथा आकारान्त शब्द गढ़वाली में भी पुलिंग ही हैं जैसे हमंद < हेमंत, गुसाइं < गोस्वामी, पातणो < पतन गेन्दु < गेंदुक, भणो < जन । उसी प्रकार स्त्रीलिंग शब्द भी—माला, पिया < पीता, म्वारी < मधुकरी, माई < मातका, बौऊ < वधू आदि।

बहुत से सर्वनाम दोनों लिंगों में अविकृत रहते हैं। किन्तु उनमें केवल अन्य पुरुष में भेद हो जाता है जैसे पुलिंग वो, स्यो, यो, को जो स्त्रीलिंग में इन रूपों को धारण कर लेते हैं वा, स्या या, क्वा, ज्वा आदि। और इनके विकारी रूपों में भी अनुनासिक का अन्तर आ जाता है जैसे, पुलिंग जन, स्त्रीलिंग जँन आदि।

वास्तव में गढ़वाली का लिंग भेद किसी वैज्ञानिक आधार पर अवलंबित नहीं है। इतनी सुविधा अवश्य है कि क्रिया तथा विशेषण के आधार पर संज्ञा के लिंग का निर्णय हो सकता है। केवल कुछ भागों में विशेषतः भण्डार में लोग पुलिंग के साथ भी स्त्रीलिंग की क्रिया का प्रयोग करते सुने जाते हैं जैसे पु० कल छ आणू के स्थान पर स्त्रीलिंग कल छ आणी। किन्तु सामान्यतः गढ़वाली क्रिया तथा विशेषण संज्ञा के लिंग के अनुकूल ही परिवर्तित होते हैं। उत्तम पुरुष के सर्वनाम अवश्य इसके अपवाद हैं। उनके साथ दोनों लिंगों में क्रिया का रूप एक-सा ही होता है।

स्त्री-प्रत्यय

गढ़वाली के स्त्री प्रत्यय संस्कृत से आए हैं। यहाँ कुछ प्रत्यय दिए जाते हैं

ई बवारी, नौनी (लड़की) गणी (तारिका)।
ईण नातीण दास्तीण।
ईड बुढीड।
णी नातणी मास्टरणी।
इयाण दास्याण, मास्टरयाण, नान्याण।
या माना बठ्या।
उली दातुली बाँसुळी, एकुली बचुली, नणन्ली।
एली रौतेली, घौपली, गातेली, पतली, पटेली।
उड़ी मुगुड़ी दातुडी छोटडी, खाबुडी, रातुडी।
टी पणोटी ड्याँटी बमणोटी बौटी।
की छोटकी, गेंडकी, मादकी, बोदगी।

इन प्रत्ययों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्रत्यय विषयक अध्याय में दी जा

रही है। इनमें से टो की ली तथा डो प्रत्यय आकार की लघुता के भी परिचायक हैं। गढ़वाली की रवाँल्टी उप बोली में इनका प्रयोग बहुत होता है।

वचन

अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की भाँति गढ़वाली में भी एकवचन और बहुवचन ही मिलते हैं। अधिकांश ओकारान्त (या उकारान्त) शब्द कर्ता कारक के एक वचन को प्रकट करते हैं। आकारान्त शब्द गढ़वाली में ही नहीं, केन्द्रीय पहाड़ी की समस्त बोलियों ब्रज राजस्थानी, गुजराती और बुन्देली में भी इसी प्रकार मिलते हैं। कर्ता के बहुवचन में ये ओकारान्त शब्द (संस्कृत सु प्रत्यय) गढ़वाली में आकारान्त (संस्कृत अस प्रत्यय) हो जाते हैं, यथा, नौनो (ए० व०) नौना (ब०व०), कूडो (ए० व०) कूडा (ब० व०) भसों (ए० व०) भसा (ब० व०)। यह प्रवृत्ति संस्कृत के अनुकूल पड़ती है।

ओकारान्त शब्द, जो बहुवचन में आकारान्त हो जाते हैं वे पुलिंग होते हैं। स्त्रीलिंग में आकारान्त शब्द मिलते ही नहीं हैं। किन्तु पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनों के लिए एक से ही बहुवचन के प्रत्यय हैं केवल अंतिम स्वर के अनुसार कुछ वैभिन्य आ जाता है।

अब यह स्पष्ट है कि ओकारान्त शब्दों के बहुवचन उन्हें आकारान्त रूप देने से बनते हैं जैसे कामलो (ए० व०) कामला (ब० व०), बाळो (ए० व०) बाळा (ब० व०), तालो (ए० व०) ताला (ब० व०) बाटो (ए० व०) बाटा (ब० व०)।

शेष स्वरों से अन्त होने वाले सभी शब्द (चाहे वे किसी लिंग के हों) कर्ता कारक के एकवचन तथा बहुवचन में अपने मूल रूप से परिवर्तित नहीं होते, जैसे नौनी (एकवचन) नौनी (बहुवचन), ब्योऊ (एकवचन), ब्योऊ (बहुवचन)। किन्तु जब इन शब्दों के विकारी रूप बनते हैं तब बहुवचन में रूप बदल जाते हैं।

एकवचन नौनीन गाय लड़की ने गाया। बहुवचन नौन्योंन गाय लड़कियों ने गाया।

ऊपर के उदाहरण में स्पष्ट है कि विकारी रूप का बहुवचन प्रत्यय ईकारान्त शब्दों में यों यों है उसी प्रकार आकारान्त उकारान्त ओकारान्त आदि शब्दों में भी इसी प्रत्यय के संयोग से बहुवचन के रूप बनते हैं, जैसे मामान (मामा ने) मामोंन, बाबोंन, भायोंन। ऐकारान्त शब्दों के साथ यश्रुति के दर्शन होते हैं बैन बयोंन कैन कयोंन आदि।

अकारान्त शब्द जब विकारी रूप में आते हैं तो उनमें भी बहुवचन के रूप एकवचन से भिन्न होते हैं। पुलिंग शब्दों के साथ उ जुड़ जाता है और स्त्री शब्दों के साथ इ जैसे घर (एकवचन पुलिंग) से घरू (बहुवचन) तथा स्त्रीलिंग

किताब (एकवचन) से किताबी (बहुवचन)। ये वास्तव में विकारी रूप हैं।

इस प्रकार बहुवचन का विकारी प्रत्यय आ कर्ता कारक को छोड़कर शेष सभी कारकों में आता है। उस दशा में उससे पूर्व का स्वर लुप्त हो जाता है या उसी से संधि कर लेता है। इस आ की व्युत्पत्ति स्पष्टतः सर्वनाम से हुई है।

गढ़वाल के प्राचीन लोकगीतों में ना बहुवचन का प्रत्यय है, जैसे, ऋतुना को भेप (ऋतुओं का भेप), ऋतुना को औणो (ऋतुओं का आगमन)। इस ना की उत्पत्ति भी संस्कृत के सर्वनाम से ही सम्भव है। बहुवचन का यह न प्रत्यय व्रज भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी और बंगला में भी मिलता है।

इसके अतिरिक्त गढ़वाली में वचन सम्बन्धी कोई विशेषता नहीं है। अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं की भाँति ही उसमें आदरार्थ प्रयुक्त संज्ञाएँ बहुवचन मानी जाती हैं। आदर प्रदर्शन और बहुत्व की सूचना के लिए सम्बन्ध सूचक शब्दों के साथ औेर तथा का जोड़ दिया जाता है, जैसे बाबाऔर (पिताजी, या पिताजी तथा अन्य) चाचाऔर चाचाका (चाचा और उनके कुटुम्बी) बौऔर, मामाकों, दादाका आदि। बंगला में सप्राण संज्ञा शब्दों के साथ प्रयुक्त बहुवचनवाची अथवा समूहबोधक एरा और रा प्रत्यय इसी तरह के हैं।[1]

समूहवाचक शब्द एकवचन माने जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से खाद्यान्न बहुवचन में ही आते हैं, जैसे, गेऊं जौ, कौणी आदि।

बहुवचन ज्ञापक शब्दावली

ऊपर के रूपों के अतिरिक्त बहुवचन रूप बनाने के लिए निम्नलिखित शब्दों का भी प्रयोग होता है

सब तुम सब हम सब नौना सब।

लोक हम लोक, नौकर लोक, अफसर लोक आदि।

भणा संस्कृत जना का तद्भव है। इससे भी बहुवचन का संकेत किया जाता है, जैसे कामेरू भणा।

और यह संस्कृत अपर से व्युत्पन्न है।[2] इसके प्रयोग के विषय में पीछे लिखा जा चुका है। सम्बन्ध सूचक शब्दों में इसका व्यवहार होता है जैसे, चाचाऔर भजीऔर आदि।

का इस प्रत्यय से भी परिचित किया जा चुका है। सम्बन्ध सूचक शब्दों के साथ इसका प्रयोग मिलता है जैसे चाचाकों भजीकों आदि।

---

[1] डा० चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १ ९

[2] सम्भव बहुतर' (हिन्दी बहुतेरे) से भी इसकी व्युत्पत्ति सम्भव है। तुलनीय असमिया बोर' गढ़वाली और' नेपाली 'हरू'। टर्नर ने अपने हिन्दी व्याकरण में इसकी व्युत्पत्ति यों मानी है—हरू < स्तोक < थरक, थरओ, थेक थेक।

कारक

अनेक भारतीय आर्यभाषाओं के समान गढ़वाली में भी संस्कृत की विभक्तियाँ अब समाप्त हो गई हैं। उनके स्थान पर परसर्गों का ही प्रयोग होता है। इन परसर्गों का प्रवेश भी सहसा नहीं हुआ है। सम्भवतः संस्कृत में ही ये प्रविष्ट हो चुके थे और नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में आकर ये विकसित हुए। गढ़वाली में प्रयुक्त कुछ परसर्ग इस प्रकार हैं :

कर्ता : न अथवा ल।

कर्म : क, कू, क, सणी, हणी, खुणी, छन, तैं।

करण : न, से, सी, ती।

सम्प्रदान : कं, तैं (तइ) लैइ (लाई), क सणी, (हणी), खुणी, कू।

अपादान : न, ती (ते) बिटे, स (सी) परन।

सम्बन्ध : को, का, की, र, रा, री।

अधिकरण : पर, मा, मु, मग, मज, तल, मथे, उन्द।

गढ़वाली में कारक चिह्नों के रूप में परसर्गों का ही अधिक प्रयोग होता है, किन्तु जिस भाषा से उसका उद्गम हुआ है उसमें विभक्तियाँ रही होंगी, इसका आभास स्पष्ट मिलता है। गढ़वाली में संस्कृत की अनेक विभक्तियों के अवशेष विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत की प्रथमा विभक्ति ओकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में आज भी सुरक्षित मिलती है। यही प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी। अपभ्रंश में ओ संक्षिप्त होकर उ हो गया है। स्वल्प प्रयोग में ओ रूप में अपभ्रंश में भी इस परिवर्तन के लक्षण मिलते हैं। इसे कुछ विद्वानों ने प्राकृत का प्रभाव माना है किन्तु उत्तर पश्चिम की अपभ्रंश में इसका प्रयोग बहुलता से होता था।[1] नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में भी—विशेषतः ब्रज और कोसली में—यह सामान्य प्रवृत्ति है। गढ़वाली में विभक्ति का लोप भी मिलता है। ऐसी अवस्था में परसर्ग न का प्रयोग होता है। यह परसर्ग हिन्दी ने के अनुरूप है। कुछ भागों में न ल हो जाता है। यह परसर्ग राजस्थानी में नई रूप में प्रयुक्त होता है। पंजाबी, मराठी, नेपाली में भी यह उपलब्ध होता है।

न अथवा (न >) ल कर्ता के समान ही करण और अपादान का परसर्ग भी है। जैसे भूखन मर—भूख से मरा, वखन आय—वहाँ से आया, दांतुन तोड़—दांतों से तोड़ता है। से अथवा सी परसर्ग का करण कारक में विशेष प्रयोग होता है। यह परसर्ग साधन का सूचक है, इसीलिए सम्भव है, इसका सम्बन्ध संयुत से हो। पर अधिक सम्भावना इस बात की है कि इसकी व्युत्पत्ति सम + एन > सएँ > सौं या से रूप में हुई हो। हिन्दी की बोलियों, राजस्थानी, तथा गुजराती में यह

---

१ वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १२३

प्रत्यय सू, णु, मिउ आदि रूप में मिलता है, जिसकी व्युत्पत्ति सार्कम् (पिशेल २०६) से मानी गई है। सौं के समान ही एक अन्य परसर्ग तीं अथवा तें गढ़वाली में ही नहीं, ब्रज, पंजाबी, गुजराती, तथा अवधी में भी मिलता है। अपभ्रंश में यह तण रूप में विद्यमान था। इसका संस्कृत मूल रूप तन रहा होगा। किन्तु तन या तण परसर्ग का सम्बन्ध गढ़वाली तन से भी संभव है। ऐसी दशा में तीं परसर्ग संस्कृत तन से उद्भूत माना जा सकता है। राजस्थानी में सम्भवतः इसके तड, थड, थी रूप मिलते हैं। करी या कैं अपने में कोई स्वतन्त्र परसर्ग नहीं है। पर इन्हें बल देने के लिए करण कारक की संज्ञा के साथ जोड़ा जाता है—तेरा करी नी होण्या मेरुणीं करी भला गवणा भी होया? वटि, बाट, बटे या बिटे परसर्ग प्राकृत में वट्ट या वत्त रूप में आया है। संस्कृत में यह वर्त्मं (अथवा कुछ विद्वानों के अनुसार वत्त अथवा वत्म=रास्ता) रहा होगा। इन परसर्गों के अतिरिक्त संस्कृत की मूल विभक्ति भी अभी गढ़वाली में अवशिष्ट है। करण कारक में एइ विभक्ति प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है, जैसे, डंडइ मारे—डंडे से मारा। राजस्थानी में यह ऐं (इ) और इइ रूप में मिलता है। गढ़वाली और राजस्थानी के ये रूप सम्भवतः अपभ्रंश के तृतीया एकवचन के वचन प्रत्यय एँ से तथा वैदिक एभि (>एहि प्रा० >इहि) से निष्पन्न हुए हैं।[1]

करण की यह ए विभक्ति अपभ्रंश में भी ए रूप में मिलती है। 'कल्पतरु' और 'पंचभाषा चंद्रिका' में इसका प्रयोग हुआ है। गढ़वाली में करण और अपादान की विभक्ति में साम्य है। एइ (ए) विभक्ति दोनों कारकों में समान रूप से प्रयुक्त होती है, जैसे वन डंडइ मार—उसने डंडे से मारा। आम डालइ म्वा पड़े—आम पेड़ से नीचे गिरे। वो कखइ आय—वह कहाँ से आया? प्राकृत में अपादान के लिए आओ, आउ आदि विभक्ति-रूप मिलते हैं, जैसे पुत्रात >पुत्ताओ, दीर्घात > दीसाउ। गढ़वाली में इन्हीं के अनुरूप अउ वाले रूप प्रचलित हैं, वणउ (वणौउ) आय घर—वह वन से घर आया, कखउ आय—कहाँ से आया। गढ़वाली अउ (ओ) के समान ही अपादान के लिए पश्चिमी राजस्थानी में भी आ, ओ प्रत्यय मिलते हैं। डॉ० टेसिटोरी ने आ की व्युत्पत्ति सार्वनामिक प्रत्यय स्मात् से सिद्ध की है। ओ को उन्होंने अपभ्रंश अहु (अहू) से व्युत्पन्न माना है। यह प्रत्यय गढ़वाली के अतिरिक्त सिन्धी, पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी में भी मिलता है।

कर्म और सम्प्रदान की विभक्तियाँ एक सी हैं। संस्कृत में आय जोड़कर सम्प्रदान का रूप बनता है। प्राकृत में वह आयँ रूप में मिलता है। गढ़वाली में अन्त्य अ की निर्बल ध्वनि के साथ यह विभक्ति सुरक्षित है, जैसे, नौना अ बोला लड़के

[1] पुरानी राजस्थानी डॉ० टेसिटोरी की पुस्तक का डॉ० ना० वर्सिंह द्वारा किया अनुवाद पृ० ५७।

को यहाँ, नौनाक मिठाई लायूं—लड़के के लिए मिठाई लाया हूँ। बाद में मे ध्वनि घिस जाने के कारण कं, कूं, तइ, सणी, खुणी आदि परसर्गों की आवश्यकता अपरिहार्य हो गई। अपभ्रंश में केहिं, किह तथा हिं हि, हु विभक्ति वाले रूप मिलते हैं जो हिन्दी की कई बोलियों में भी प्रचलित हैं। गढ़वाली में ये विभक्ति रूप क (कुछ भागों में, जैसे—रब क), इ (जैसे चाचाइ दवा—चाचा को दो गणीइ बालावा—रानी को बुलाओ) रूप में मिलते हैं। ये रूप ब्रज और अवधी के कहुं, हिं की बिरादरी के निकट पड़ते हैं। इन रूपों की व्युत्पत्ति कक्ष से मानी जाती है पर कृते से भी सम्भव है। उसी प्रकार गढ़वाली परसर्ग ताइ, तइ अथवा तक को तरिते अथवा प्रति (>प्रतइ>तइ) तथा लाई अथवा ले का लाग अथवा लग्गे से व्युत्पन्न माना जाता है। ताईं की व्युत्पत्ति डा० टेसिटोरी ने इस रूप में मानी है—तावति > तावहिं > तावँहि > *ताअइं > ताइ > *ताँइ > ताइ। गढ़वाली में राजस्थानी की भाँति ही इस परसर्ग का अर्थ तक भी होता है, जैसे आज ताइ—आज तक। सणी (हणी छनि) और खुणी (कुणी कणी भी) अपभ्रंश में सडें, सनो और कणे रूप में मिलते हैं। डा० हेमचन्द्र जोशी ने सणी की व्युत्पत्ति संस्कृत सरो से मानी है।[1] ब्रज और अवधी में सन और सौं रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रमोली क्षेत्र की बोली में हुइ परसर्ग का प्रयोग मिलता है जैसे त्व हुइ दिन—तुमको दिया। राजस्थानी में इसके अनुरूप रहइ परसर्ग का प्रयोग होता है जिसके रइ और ह्रइं रूप भी उपलब्ध होते हैं। खुणी कणे का ही विकसित रूप है। अपभ्रंश में इसी के अनुरूप कण्णहि और राजस्थानी में कन्हइं रूप मिलते हैं। गढ़वाली में कनइ अधिकाधिक नाम के रूप में ही प्रयुक्त होता है—भजी कनइं छा जाणी—भाईजी कहाँ (किधर को) जा रहे हो। राजस्थानी में भी कन्हइं कर्म और सम्प्रदान की विभक्ति के अतिरिक्त की ओर का अर्थ भी देता है।[2] यह परसर्ग गुजराती में कने, कणे, मेवाती कने तथा कुमाउँनी में कणि रूप में प्रयुक्त होता है। अन्य परसर्गों में भित्र (भीतर) खातर, वाना (कारण) निमित्त (निमित्त) का प्रयोग भी यदा कदा होता है।

अधिकरण कारक संस्कृत और प्राकृत में एकारान्त होता है। गढ़वाली में मथ (< मस्तक) मज (< मध्ये) जैसे शब्द आज भी विभक्तिक रूपों की याद दिलाते हैं। अपभ्रंश में ए वाला रूप इकारान्त हो गया था। गढ़वाली में भी यह प्रवृत्ति मिलती है जैसे माथ माथे=मथि, मौज, मज=मजी। स्मिन् वाले रूप प्राकृत में म्मि हो गए हैं। गढ़वाली में इसका अवशेष मिया म रूप में मिलता है—स्मिन् > म्हि > मि पर मि (मू भी) चला। बहुप्रयुक्त विभक्ति हिं, हि भी पुरानी

1 डॉ० जोशी टिप्पणी अनुवाद विशन का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ५३८।
2 पुरानी राजस्थानी (टेसिटोरी) पृ० ७२।

गढ़वाली में हूँ रूप मे सुनने को मिलती है। यह अपभ्रंश में भी थी और ब्रज और अवधी मे विशेष रूप से प्रचलित है। हिं वाला रूप अधिकरण कारक में गढ़वाली में भी उपलब्ध होता है। हिं > इ, जैसे कयइ छा आणा—कहां आ रहे हो। राति ऐन—रात में आय। अधिकरण में निर्विभक्तिक प्रयोग भी अधिक मिलते हैं जैसे घड़ा पाणी ना, चूल्हा आग नी—घड़े (में) पानी नहीं चूल्हे (में) आग नहीं। गोणी डाला चटे—लंगूर पेड़ (पर) चढ़ा। इस कारक में, फिर भी, सबसे अधिक परसर्गों का प्रयोग मिलता है। इनमे मु माँ (मध्य > मज्झे > *मांझा > मज्झहुँ ~ माहा ~ म्हा > मा) मँज अथवा माज (मध्य), मग अथवा मुग, पर ऐंथ (उच्चै) निम, उब्बो (ऊर्ध्व) उदो, उदो (अध) धोज, तरप तन, जन (घर जनैं छन आणा), मथे (मध्यके) आदि उल्लेखनीय हैं।

सम्बन्ध कारक में को, का, की परसर्ग हिन्दी के अनुरूप ही गढ़वाली में भी मिलते हैं किन्तु रवांल्टी क्षेत्र की उपबोली में रो, रा, री का प्रयोग विशेष होता है।[1] बंगला और राजस्थानी में इस प्रकार के प्रयोग होते हैं यह सर्वविदित है। अपभ्रंश के कर, करा, करम परसर्गों (तथा हिन्दी में तुलनीय, कबीर पानी करा बुदबुदा) के अनुरूप ही गढ़वाल के कुछ भागों में करीं तथा करो का प्रयोग करते हुए लोग सुने जाते हैं। उदाहरण के लिए चाचा-करो (कू) डेरा—चाचा का घर। इन परसर्गों के अतिरिक्त संस्कृत की मूल विभक्ति का अवशेष भी गढ़वाली में सर्वथा विनष्ट नहीं हुआ है। सम्बन्ध की स्स विभक्ति का विकास परवर्ती भाषाओं में इस प्रकार हुआ है—कामस्य > कामास > कामाह। यही साह वाला रूप अपभ्रंश में ही हो गया जैसे स्वामिकस्य > सामिअहो। गढ़वाली में यह विभक्ति रूप औंस रूप में मिलता है। उदाहरण के लिए कामौंस आदमी—काम का आदमी। बहुवचन मे यह प्रत्यय पुलिंग में अआ अथवा आएँ हो जाता है तथा स्त्रीलिंग में इअ या इया। इस दृष्टि से पुरानी राजस्थानी के ईआ, इया (< ईअ-ह) आदि विभक्ति प्रत्यय तुलनीय हैं (पुरानी राजस्थानी पृ० ६२)।

सम्बोधन में बहुवचन शब्द ओकारान्त हो जाते हैं और एकवचन में आकारान्त। यह प्रवृत्ति प्राकृत में भी है। अपभ्रंश में अन्त में हो जोड़ने का विधान है। यही हो गढ़वाली में सो अथवा अउँ रूप में उपलब्ध है। उच्चारण में अन्त्य स्वर प्राय लुप्त हो जाता है। इसकी माध्यमिक अवस्था अ हो तथा अउ > ओ मानी जा सकती है। अहु का प्रयोग हिन्दी की बोलियों में भी मिलता है (दिग्गिकुंजरहु तुलसी, रा० च० १।२६०)। गढ़वाली में यह नियम सब शब्दों पर लागू नहीं होता। अकारान्त, आकारान्त तथा इकारान्त शब्द एकवचन में अपने मूल रूप में ही रहते हैं।

1. देखिए मेरा पुस्तक 'गढ़वाली लोकगीत' पृ० ११२ ७०
इसी प्रकार परिनिष्ठित गढ़वाली में भी हमारो, तुम्हारो का हमारि' लोरा हो प्रयोग भी।

कभी कभी एक ही कारक की दो विभक्तियाँ और परसग एक साथ प्रयुक्त हुए मिलते हैं। उसम विभक्ति लोप सी होती है और परसग उसका स्थान लेन को तत्पर दिखाई देता है, जसे कामका आदमी—कामोउ कू आदमी। इसके अति रिक्त दो विभिन्न कारका के परसग भी एक साथ सयुक्त दिखाई देते हैं जसे, डाला पर न पछी उडे—वक्ष पर से पक्षी उडा। नौ"या मजेन तू सबतो स्याणी छ—लडकिया मे से तू सबसे सुदर है। चुल्ला मा को खाणो—चूल्हे मे का खाना। काठु मजे की जोत—शिखर पर की ज्योत्स्ना।

इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी की बोलिया म तो मिलते हैं, पर साहित्यिक हिन्दी म ऐसे प्रयोगो को प्रोत्साहन नही दिया जाता।

सर्वनाम

गढ़वाली में प्रयुक्त सब सर्वनाम संस्कृत से आए हैं। केवल प्राकृत और अपभ्रंश की अवस्थाओं को पार कर आने के कारण उनमें कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुए हैं। गढ़वाली में भी उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में (सम्बन्ध कारक के रूपों को छोड़कर) अन्य पुरुष के सर्वनाम स्पष्टतः लिंग का बोध कराते हैं जैसे वो (वह पुरुष), वा (वह स्त्री) आदि। वास्तव में, गढ़वाली उत्तम और मध्यम पुरुष के रूपों को छोड़कर सब सर्वनामों के स्त्रीलिंग और पुलिंग दोनों रूप मिलते हैं। हिन्दी में अन्य पुरुष में स्त्री और पुरुष के लिए अलग अलग सर्वनाम नहीं हैं। गढ़वाली में अन्य और मध्यम पुरुषों में क्रिया भी सर्वनाम के लिंग वचन के अनुसार चलती है, किन्तु उत्तम पुरुष में क्रिया लिंग भेद का द्योतन नहीं करती जैसे मैं खान्दू मैं खाता हूँ या खाती हूँ।

सर्वनाम तथा संज्ञा की विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। कारकों के विभिन्न रूप बताने के लिए इन्हीं परसर्गों का प्रयोग होता है।

उत्तम पुरुष सर्वनाम

	एक वचन	बहु वचन
अविकारी कर्ता	मैं, आऊँ, मई, मी, मि	हम, हमू
विकारी सम्बन्ध	मेरो, मेरी (म्यारो, म्यारी)	हमारो, हमारी

सपरसर्ग रूप

मिन, मैंन (कर्ता)
मोकू, मकं (कर्म-सम्प्रदान)
मो से मैंसी (करण-अपादान)
म्यरो, मेरो (सम्बन्ध)

उत्तम पुरुष के एकवचन में अनेक रूप मिलते हैं। इनमें आऊँ सबसे प्राचीन है। यह केवल पूर्वी रवांल्टी में और वह भी प्राचीन लोकगीतों में मिलता है, अन्यथा यह लुप्त होता जा रहा है। इसका स्थान अब मैं तथा मुई ले चुके हैं। आऊँ स्पष्टतः अहम या अहक से व्युत्पन्न है। ब्रज में यह हौं रूप में मिलता है। अपभ्रंश में यह हऊ रूप में आया है। मई (< मया) प्रयोग अपभ्रंश में भी मिलता

है। जनपदीय बंगला, असमी में मुई तथा सिंधी में मु का प्रयोग प्रचलित है। प्राचीन राजस्थानी में भी मू, मो मूह रूप मिलते हैं। गढ़वाली में मु अथवा मुइ का सम्बन्ध भी मह्यम से सम्भव है। मई और मि रूप प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में उपलब्ध होते हैं। गढ़वाली में हिन्दी की भांति मुझ और तुझ रूपों का प्रयोग नहीं होता। सर्वनाम के साथ कर्म का परसर्ग जुड़कर उनके भाव को व्यक्त किया जाता है जैसे मक (मया कृत) माउक (अहम कृत)। हम और उसके सम्बन्ध कारक के रूप हिन्दी के ही अनुरूप है और उनकी व्युत्पत्ति निर्धारित की जा चुकी है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम

मध्यम पुरुष सर्वनाम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं

अविकारी	तू, ताऊँ (एक वचन)	तुम (बहु वचन)
विकारी	तेरो, त्व	तुमारो

तू सभी नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति हिन्दी में विद्वानों ने मैं के समान ही त्वया से दी है।[1] गढ़वाली में तू का विकारी रूप त्व भी मिलता है जिसकी उत्पत्ति त्वया से ही साध्य हो सकती है। डॉ० चाटुर्ज्या ने तू की उत्पत्ति त्वम् से निर्धारित की है। गढ़वाली त्व और तू को देखते हुए कह सकते हैं कि तू की उत्पत्ति त्वया की अपेक्षा संस्कृत त्वम् से हुई है। त्वया से केवल विकारी रूप त्व की उत्पत्ति सम्भव है। तू के अनुरूप प्राकृत में तुह, तुव या अपभ्रंश में तहुँ रूप मिलता है। रवाल्टी में प्रयुक्त ताऊ रूप (और संस्कृत त्वम् के) सर्वाधिक निकट पड़ता है। उसी प्रकार कर्म और करण में तुए और तई और तुई रूप गढ़वाली त्व या तोई के अनुरूप ही हैं। तुम की व्युत्पत्ति डा० सक्सेना ने प्राकृत तुम्हे से निर्धारित की है।[2] और फिर अस्मे के सादृश्य पर इसकी कल्पना की है। हमारो-तुमारो रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद नहीं है। कर्म कारक में गढ़वाली में हिन्दी तुमको से भिन्न रूप सम्पन्न होते हैं। रवाल्टी में ताउक (त्व कृत) रूप प्रचलित है। शेष गढ़वाल में तोइक अथवा त्वक या कभी विभक्तिहीन त्व का प्रयोग मिलता है।

अन्य पुरुष

गढ़वाली में भी अन्य पुरुष के रूप परोक्ष अथवा दूरत्व निश्चयसूचक सर्वनामों के ही अनुरूप होते हैं। वास्तव में अन्य पुरुष के सर्वनामों का स्थान दूरवर्ती निश्चय वाचक ने ले लिया है।

---

१ डॉ० बाबूराम सक्सेना अवधी—उद्गम और विकास, पृ० १६६
२ वही।

निश्चयवाचक सर्वनाम

दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम गढ़वाली में वो अथवा वा (पु०) तथा वा (स्त्री०) रूप में मिलता है। अपभ्रंश में इसका प्राचीन रूप ओइ अथवा ओ और प्राकृत में अओ था। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत में अव तथा प्राकृत के ओ जैसे कल्पित रूपों से मानी गई है।[1] डा० सक्सेना ने इ को निकटवर्ती निश्चय वाचक सर्वनाम और ऊ को दूरवर्ती ध्वन्यात्मक प्रतीक माना है।[2] किन्तु इस कल्पना के लिए सम्भावना होते हुए भी आधार नहीं है। डा० उदयनारायण तिवारी ने उसका मूल अमौ स्वीकार किया है।[3] गढ़वाली में इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं

कर्ता वो, वो, ऊ (एक वचन) वो वो ऊ (बहु वचन)

सम्बन्ध वका ऊका

शेष रूप विकारी रूप व (एकवचन) और ऊ (बहुवचन) के साथ विभक्तियाँ जोड़ने से बनते हैं। वा कर्ता का एकवचन का स्त्रीलिंग रूप है और वों बहुवचन का। अन्य कारकों में रूप विकारी रूप वा के साथ विभक्ति के संयोग से बनते हैं।

निकटवर्ती निश्चयवाचक के लिए ये रूप मिलते हैं

अविकारी यो (पु०) या (स्त्री०) इ ये (पु०) इ (स्त्री०)

विकारी ये (पु०), ई (स्त्री०) यू (पु० और स्त्री०)

प्राकृत में एअ, एई रूप प्रचलित थे। अपभ्रंश में एह एहु (पु०) और एह (स्त्री०) रूप मिलते हैं। हेमचन्द्र ने ओइ (८।४।३६४ उ०) का भी प्रयोग किया है। कीर्तिलता (२।७१) में ओ के उदाहरण मिलते हैं। बहुवचन में ए रूप भी गढ़वाली के अनुरूप ही है।

ई स्पष्टतः इयम् से सम्बन्धित है। यू की व्युत्पत्ति इमम् अथवा इमा से सम्भव है। यो की उत्पत्ति यदि एष (एत्) से मान ली जाय तो ये की उत्पत्ति एते और पुलिंग यू की उत्पत्ति एतानि से माननी होगी। सम्बन्ध कारक के रूप येको तथा ग्वाल्टी में एन्को बनते हैं जो हिन्दी इसका के ही अनुरूप है। एन्को की उत्पत्ति अस्य से हुई है, जिसके साथ बाद में सम्बन्ध कारक की विभक्ति जोड़ दी गई है। चाटुर्ज्या इसका की व्युत्पत्ति एतस्य से मानते हैं।

इनसे भी भिन्न कोटि का सर्वनाम स्यो (सो) तथा स्या (स्त्री०) है। वास्तव में स्यो और स्या का प्रयोग प्राचीन गढ़वाली में अन्य पुरुष के अर्थ में मिलता है, किन्तु कालान्तर वह यो निश्चयवाचक सर्वनाम का काम देने लगा। अब इसका

१ डॉ० चाटुर्ज्या बेंगाली लैंग्वेज, पृ० ५६६

२ डॉ० बाबूराम सक्सेना इवाल्यूशन ऑफ अवधी।

३ डॉ० तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ४६२

अन्य पुरुष का भाव मिटता जा रहा है। एक बात इसके सम्बन्ध में यह है कि इसके प्रयोग में आत्मीयता या परिचय का भाव निहित होता है, जैसे स्या नौनी (वह परिचित लड़की)। पति पत्नी भी एक-दूसरे के लिए इसका प्रयोग करते मिलते हैं सि कख गन वे-मेरे पति—कहाँ गये।

किन्तु निश्चयात्मक सर्वनाम के रूप में स्यो सि, स्या का भाव की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यो बहुत निकट की वस्तु की सूचना देता है और वो बहुत दूर अथवा परोक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु स्यो, सि दृष्टिगत दूरी (थोड़ी दूर) के लिए आता है। इस प्रकार स्यो डालो का अर्थ होगा वह पेड़ जो थोड़ी दूर पर है और जो दिखाई भी दे रहा है।

इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं

पुलिंग	सु स्यो सो (एकवचन)	स्ये स्यो सि (बहुवचन)
स्त्रीलिंग	स्या	स्यी, सि

विकारी रूप करण कारक के एकवचन तेन से बना है जो गढ़वाली में तन रूप में मिलता है। विभक्तियाँ इसी त के साथ जुड़ती हैं। बहुवचन में यह तौं हो जाता है। तौं की उत्पत्ति तान से हुई है। तौं कर्म कारक के बहुवचन का रूप भी है। स्त्रीलिंग में भी विकारी रूप तौं ही प्रयुक्त होता है। केवल एकवचन में त के पुलिंग रूप पर अनुस्वार लगाकर तं रूप में स्त्रीलिंग की सूचना दी जाती है। स्यो तथा स्या स्पष्टतः संस्कृत के स तथा सा हैं। स्यो तथा स्या में श्रुति के आगम को देखते हुए इनके साथ एव के प्रयोग की कल्पना भी की जा सकती है जैसे स्यो स एव स्या सा एव। सम्बन्ध कारक में इसके तको या तैन्को रूप बनते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में भी सो, सु (एकवचन) और से, सि (बहुवचन) का प्रयोग मिलता है। हिन्दी जो है सो की भाँति ही गढ़वाली में भी सो (सु) वाक्योपयोगार्थ भी प्रयुक्त होता है, जैसे सु तुम इनु बोल्दान।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं

मूल रूप	जो जु (एकवचन)	जो जु (बहुवचन)
	जु, ज्वा (स्त्रीलिंग)	जु ज्वा (स्त्रीलिंग)
सविभक्तिक रूप	ज (पु०) ज (स्त्री०)	जौं (पु० तथा स्त्री०)

प्राकृत में जु (पु०) और जोआ जोई (स्त्री०) रूप उपलब्ध होते हैं। कर्ता का सविभक्तिक रूप जन संस्कृत येन के अनुरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार बहुवचन में अनुनासिकता म् के कारण आयी हुई प्रतीत होती है। यद्यपि ज की व्युत्पत्ति यभि और जौं की याभ्याम् अथवा येषाम् से भी (हिन्दी के विद्वानों के

मता का अनुसरण करते हुए) दी जा सकती है किन्तु हमारी दृष्टि में करण कारक के रूपों से ही विकारी रूप सम्पन्न हुए हैं।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के अन्तर्गत कोअ़ (कु), कूण तथा क्या आते हैं। कूण का प्रयोग केवल रवाल्टी-जौनपुरी में होता है। इनके रूप इस प्रकार हैं

पुलिंग	कूण, कोअ़ (कु)	स्त्रीलिंग क्या
सविभक्तिक रूप	कै (एकवचन)	कौं (बहुवचन)

अपभ्रंश में भी काई और कवण दोनों रूप थे। हिन्दी के कौन के समान ही कूण की व्युत्पत्ति क: पुन: से हुई है और कोअ़ या कु में संस्कृत क: का स्पष्ट आभास है। प्राकृत में करण में किणा रूप मिलता है और किं से सयुक्त भी मिलता है किणा किं। यह गढ़वाली कन के अनुकूल पड़ता है। क्या रवाल्टी गढ़वाली की अन्य बोलियों में काअ़ रूप में मिलता है। हिन्दी की कई पूर्वी बोलियों में तथा ब्रज भाषा में भी यह किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ इसी रूप में मिलता है। मराठी में यह काय रूप में विद्यमान है। भोजपुरी काह का अध्ययन करते हुए इसकी व्युत्पत्ति डा० उदयनारायण तिवारी ने संस्कृत कस्य से निर्धारित की है।[1] डा० वर्मा भी इसका सम्बन्ध किम् से नहीं मानते।[2] क्या के अर्थ में क्यू, कैक, किल आदि प्रत्यय युक्त रूप तथा कुछ भागों में काइ का प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है कथम् > किउम् > क्यू अथवा कथम् > प० आ० भा० > किह > गढ़० कै + क।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

अनिश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में क्वी तथा कुछ या किछु का प्रयोग होता है। क्वी चेतन तथा किछु अचेतन वस्तुओं के लिए आता है। क्वी का विकारी रूप कै है। क्वी की व्युत्पत्ति स्पष्टत: कोऽपि से को वि > के वि > क्वी रूप में हुई है। किछु की उत्पत्ति किंचित् से अधिक यक्तिसंगत प्रतीत होती है।

निजवाचक तथा आदरवाचक सर्वनाम

आत्मसूचक सर्वनाम के रूप में आफू या अपणा का व्यवहार होता है। आफू अविकारी है। आपणो (पुलिंग), आपणा (पुलिंग बहुवचन), आपणी (एक

---

१ डॉ० तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ४३१

२ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० २८६

वचन तथा बहुवचन का प्रयोग प्राय विशेषण के रूप म होता है। ण > ड, र भी हुआ मिलता है—आपडो, आपरो।

समूहवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत सब्ब उल्लेखनीय है। यह संस्कृत सर्व के कर्त्ता कर्म बहुवचन रूप सर्वे (> अप० सव्वे) से उद्भूत है।

संयुक्त सर्वनाम

कभी कभी दो सर्वनामों का साथ साथ प्रयोग भी मिलता है। इसके अनेक उदाहरण हैं जैसे

सबी क्वी बोल्दा सब कोई कहता है।
क्या किछु करला क्या कुछ करूँ?
जु किछु करदाई जो कुछ करते हो।
ज्वी-क्वी औन्द जो कोई आता है।
जनो कनो फूल नी यो यह जैसा कैसा फूल नहीं है।
जैसा कैसा का अर्थ साधारण से है।
ज ई क ई का नौना जिस किसी के लड़के।
जिस किसी का अर्थ है यहाँ भी साधारण व्यक्ति।
जथा कुछ होई सक्द जितना कुछ हो सकता है
इथा उथा म काम नी चलदा इतने उतने म काम न [illegible]।
इनम से कई प्रयोग साहित्यिक हिन्दी म नहीं मिलते।

सर्वनाममूलक विशेषण

विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनाम अन्यतः परिमाणवाचक, प्रकारवाचक तथा संख्यावाचक हैं। प्रकारवाचक विशेषण के रूप म एनो (इनो) कनो (कनो) जनो (जनो) तनो (तनो) आदि द्विविध रूप मिलते हैं। इन सबकी व्युत्पत्ति संस्कृत से इस प्रकार हुई है एना < एतादृश तनो < तादृश, कना < कीदृश जना < यादृश। अपभ्रंश म भी जइसो तइसो, कइसो रूप सम्भव थ। इनो तनो यनो आदि जो म अन्त होनेवाले रूप भी किसी प्रत्यय के सहयोग से ही निष्पन्न प्रतीत होते हैं।

परिमाण को व्यक्त करने के लिए इथार्म उथार्म कथार्मे जथार्मे तथार्म विशेषण रूप म प्रयुक्त होते हैं। इनका अन्त्य स्वर प्राय दुर्बल रूप म उच्चरित होता है। इनके अतिरिक्त प्रमाणवाचक विशेषणों का एक अन्य रूप भी उपलब्ध होता है इथका उथका कथका जथका तथका (थ > क =इथका उथका आदि

भी)। ये पूर्वोक्त रूपों से सहसा भिन्न नहीं प्रतीत होते। केवल उन पर का प्रत्यय जुड़ गया है। का वास्तव में अल्पता को व्यक्त करनेवाला प्रत्यय है। इसका सम्बन्ध संस्कृत इका अथवा क से प्रतीत होता है। इयत्तिका > ऐत्तिय > इत्तिय > गढ़० इथा या इथका। जहाँ तक इन रूपों का सम्बन्ध है, प्राकृत में एतक, कतक तथा पाली में एत्तिय, कत्तिय और अपभ्रंश में एत्तिउ केत्तिउ, तेत्तिउ रूप मिलते हैं। पिशेल ने इनके वर्णिक रूपों की भी कल्पना की है (परि० १५३ पिशेल)। तुलनीय मराठी इतका, इतुका सिन्धी एतिरो, सिंहाली एतकिन।

इति, तति, उति, कति, जति आदि का व्यवहार संख्यावाचक सर्वनामिक विशेषण के रूप में होता है। कति, तति आदि स्वयं संस्कृत में इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। बहुत सम्भव है, इन्हीं के सादृश्य से अन्य शब्द भी संस्कृत में प्रयोग होते रहे हों। इति शब्द भी संस्कृत में मिलता है, यद्यपि उसके और गढ़वाली में प्रयुक्त अर्थ में थोड़ी भिन्नता है। फिर भी दोनों इति बहुत भिन्न नहीं हैं। संस्कृत के इयत् कियत् आदि रूपों में इनकी व्युत्पत्ति निश्चित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

आकार की गुरुता और लघुता प्रकट करने के लिए गढ़वाली में इतरो, ततरो उतरा, जतरो, कतरो आदि रूप मिलते हैं जैसे, कतरा छ कितना बड़ा या छोटा है। ये रूप तर प्रत्यय के सहयोग से सम्पन्न हुए प्रतीत होते हैं।

इन सब सर्वनामों का दर्शन के बाद एक धारणा बनती है कि ये सभी एक ही मूल से सम्बन्धित हैं और इनके विभिन्न रूप केवल एक ही समूह को बनाते हैं

गुण	संख्या	परिमाण	आकार
ऐसो, इनो	इति	इथा, इथका, इतना	इतरो
वैसो, उनो	उति	उथा, उथका उतना	उतरा
तसो, तनो	तति	तथा, तथका, ततना	ततरा
कसो, कनो	कति	कथा, कथका, कतना	कतरा
जसो जनो	जति	जथा, जथका, जतना	जतरा[1]

इस कल्पना के लिए पर्याप्त स्थान है कि प्रत्येक वर्ग के शब्द एक ही शब्द पर विभिन्न प्रत्ययों के योग से बने हैं। हिन्दी में आकार, परिमाण और संख्या के लिए अलग अलग सार्वनामिक विशेषण नहीं हैं। गढ़वाली इस दृष्टि से विशेष है, किन्तु यह भेद होते हुए भी वैकल्पिक रूप से इनका प्रयोग एक-दूसरे के लिए हो जाया करता है जैसे, (१) इति किताब, (२) इथा किताब (३) इतरी किताब। हिन्दी में इन सबका अनुवाद एक ही यानी 'केवल इतना किताबें' के रूप में ही हो सकता

१ तुलनीय ब्रज इतो कितो, जितो तितक, कितक बाल रूप तथा ब्रजभाषा बोलचाल उतना, ततरा आदि।

है। इनके द्वारा गुण का बोध भी समान रूप मे कराया जा सकता है, जैसे (१) इति स्वाणी (२) इथा स्वाणी, (३) एथी (इनी) स्वाणी, (४) इतरी स्वाणी। इन सबका हिन्दी अनुवाद होगा इतनी सुन्दरी।

इतने अभेद के होते हुए वास्तव में ये सब एक ही भाव के द्योतक नहीं हैं। इस प्रकार के प्रयोगों मे भी उनमे जो संख्या आकार, गुणोपम्य, अंग, मात्रा और प्रकार का भेद ध्वनित होता है वह तब भी लुप्त नहीं होता, यद्यपि उसे अनुवाद में एक उपयुक्त शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

विशेषण

गढ़वाली में विशेषण लिंग और वचन से प्रभावित होते हैं। संज्ञापदों के लिंग के अनुसार ही विशेषणों के भी लिंग होते हैं। उदाहरण के लिए, काळा बल्द, काळी गौड़ी। कम सदा प्रयुक्त विशेषण में भी इसी नियम का पालन होता है। इसी प्रकार वस्तु अथवा प्राणियों में गुरुत्व अथवा लघुत्व की अभिव्यंजना के लिए उनके प्राकृतिक लिंग में जिस प्रकार अन्तर सम्भव है उसी प्रकार विशेषण में भी। इस दशा में व्याकरणिक लिंग के अनुसार ही विशेषण का रूप शासित होने को बाध्य है जैसे काळा गौड़ो काळी गौड़ी। हिन्दी में इसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा काला बड़ा गाय, काली छोटी गाय। डो आकार की गुरुता और डी लघुता को प्रकट करता है। इस प्रकार ये प्रत्यय स्वयं विशेषण का कार्य करने लगते हैं जैसे गौड़ो बड़ी गाय, गौ सामान्य गाय गौड़ी छोटी गाय। इनमें डो पुलिंग और डी स्त्रीलिंग का प्रत्यय है। इसी प्रकार लो, ली तथा टा, टी प्रत्यय भी डो, डी की ही परम्परा का निभान हैं किन्तु इनका प्रयोग विशेषण रूप में कम ही मिलता है। ये मुख्यतः आकार की गुरुता और लघुता ही नहीं ध्वनित करते हैं परुषता, सुन्दरता, कोमलता आदि गुणों को भी प्रकट करते हैं जैसे, नथ (सामान्य नथ), नथुलो (बड़ी नथ) नथुली (छोटी नथ) और धणु (सामान्य धनु), धणेटो (बड़ा धनु), धणूटो (छोटा धनु धनुही)। इस प्रकार संज्ञाओं के साथ प्रत्ययों के जुड़ जाने से वे एक निश्चित अर्थ के द्योतक हो जाते हैं और वे अप्रत्यक्ष रूप से उपपद का काम करने लगते हैं। भाषा के प्रारम्भिक रूप में इस प्रवृत्ति के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। आज भी कई विकसित भाषाओं में—उदाहरण के लिए बंगला में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—गाछटा यह बड़ा पेड़, गाछटी यह छोटा सुन्दर पेड़। गढ़वाली में जहाँ तक स्त्रीलिंग बनाने का प्रश्न है, जब विशेषणों के स्त्रीलिंग बनाने होते हैं तो वे भी संज्ञापदों की ही भाँति इकारान्त हो जाते हैं, जैसे बड़ो-बड़ी, काळो-काळी।

है। इनके द्वारा गुण का बोध भी समान रूप में कराया जा सकता है जैसे (१) ऐति स्वाणी, (२) इथा स्वाणी, (३) एसी (इनी) स्वाणी, (४) इतरी स्वाणी। इन सबका हिन्दी अनुवाद होगा इतनी सुन्दरी।

इतने अभेद के होते हुए वास्तव में ये सब एक ही भाव के द्योतक नहीं हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में भी उनमें जो सख्या आकार गुणोपम्य, अश मात्रा और प्रकार का भेद व्यंजित होता है वह सब भी लुप्त नहीं होता, यद्यपि इस अनुवाद में एक उपयुक्त शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

विशेषण

गढ़वाली में विशेषण लिंग और वचन से प्रभावित होते हैं। संज्ञापदों के लिंग के अनुसार ही विशेषणों के भी लिंग होते हैं। उदाहरण के लिए, काळो बल्द, काळी गोड़ी। कर्म सदृश प्रयुक्त विशेषण में भी इसी नियम का पालन होता है। इसी प्रकार वस्तु अथवा प्राणियों में गुरुत्व अथवा लघुत्व की अभिव्यंजना के लिए उनके प्राकृतिक लिंग में जिस प्रकार अन्तर सम्भव है, उसी प्रकार विशेषण में भी। इस दशा में व्याकरणिक लिंग के अनुसार ही विशेषण का रूप शासित होने को बाध्य है, जैसे काळो गोड़ो काळी गोड़ी। हिन्दी में इसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा काला बड़ा गाय, काली छोटी गाय। डो आकार की गुरुता और डी लघुता को प्रकट करता है। इस प्रकार ये प्रत्यय स्वयं विशेषण का कार्य करते दीखते हैं जैसे गोड़ो बड़ा गाय, गौ सामान्य गाय, गोड़ी छोटी गाय। इनमें डो पुलिंग और डी स्त्रीलिंग का प्रत्यय है। इसी प्रकार लो, ली तथा टो, टी प्रत्यय भी डो, डी की ही परम्परा को निभाते हैं किन्तु इनका प्रयोग विशेषण रूप में कम ही मिलता है। ये मुख्यतः आकार की गुरुता और लघुता ही नहीं ध्वनित करते हैं पर पना, सुन्दरता, कोमलता आदि गुणों को भी प्रकट करते हैं, जैसे, नथ (सामान्य नथ) नथुलो (बड़ी नथ), नथुली (छोटी नथ) और धनु (सामान्य धनु) धनेटो (बड़ा धनु) धनूटी (छोटा धनु धनुही)। इस प्रकार संज्ञाओं के साथ प्रत्ययों के जुड़ जाने से वे एक निश्चित अर्थ के द्योतक हो जाते हैं और वे अप्रत्यक्ष रूप से उप पद का काम करने लगते हैं। भाषा के प्रारम्भिक रूप में इस प्रवृत्ति के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। आज भी कई विकसित भाषाओं में—उदाहरण के लिए बंगला में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—गाछटा यह बड़ा पेड़, गाछटी यह छोटा सुन्दर पेड़। गढ़वाली में जहाँ तक स्त्रीलिंग बनाने का प्रश्न है जब विशेषणों के स्त्रीलिंग बनाने होते हैं तो वे भी संज्ञा पदों की ही भाँति इकारान्त हो जाते हैं, जैसे बड़ा-बड़ी, काळो-काळी।

वचन की दृष्टि से अधिक परिवर्तन विशेषणों में नहीं होते। केवल ओकारान्त विशेषण एकवचन में आकारान्त और बहुवचन में ओकारान्त बनकर सविभक्तिक रूप धारण करते हैं।

अन्य स्वरों में अन्त होने वाले विशेषण सब दशाओं में अविकृत मिलते हैं।

तुलनात्मक श्रेणियाँ

गढ़वाली में तुलनात्मक श्रेणियों को प्रकट करने के लिए संस्कृत की भाँति तरप् तथा तमप् प्रत्यय नहीं हैं। केवल आकार की लघुता और गुरुता को ध्वनित करने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

समानता का भाव अनेक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है उनका परिचय आगे दिया जा रहा है। सी गढ़वाली में सा के अर्थ में अनिश्चय प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है जो सब दशाओं में अविकृत रहता है। उत्तम तुलना का भाव वास्तव में अनिश्चय के रूप में विद्यमान होता है जैसे गोरी-सी गोरी—गुद्ध गोरी लड़की।

समानता सी, जसो, तसो जनो, तनो, तरौं (तरह) सरी, सारिख्या आदि शब्दों। से प्रकट की जाने की सामान्य परम्परा है। सी संस्कृत सम से व्युत्पन्न है। सारिख्या का सम्बन्ध सदृश से सम्भव है और सरी भी उसी का रूप है। जसो यादृश से उत्पन्न हुआ है। तुलनात्मक श्रेणियों का भाव कम ज्यादा इससे भिन्न आदि शब्दों से भी व्यक्त किया ही जाता है। इनके अतिरिक्त ती सी और चुली का भी प्रयोग होता है। नेपाली में चाइ का बंगला में चेये प्रयोग मिलता है। गढ़वाली में उमर मुरादाबाद में च मिलता है। ती संस्कृत तर से भी व्युत्पन्न हो सकता है। तुलना में इनका प्रयोग इस प्रकार होता है

त्वा मैं ती वठीया वा रॉड होया तो मुझसे अधिक सुन्दरी हो (भगवान करे) वह विधवा होवे।

त्व च त मैं भनी—तुझसे तो मैं भनी।

वा त्व चुली स्वाणी छ—वह तुझसे अधिक सुन्दर है।

गुण की मात्रा न्यूनता अधिकता या अस्पष्टता प्रकट करने अथवा उनका कुछ आभास मात्र देने के लिए प्राय विशेषण को दुहराने की परम्परा है। उदाहरण के लिए लाल लाल सी बाखुरी कुछ लाल सी बकरी अर्थात हलके लाल रंग की बकरी।

गुणाधिक्य तथा मात्राधिक्य को प्रकट करने के लिए स्वराघात का विशेष महत्त्व है। विचारू भ ल्लू मनखी छौ बेचारा बहुत भला आदमी था। भला के भ ल्लू उच्चारण से गुणाधिक्य का भाव प्रकट किया गया है। उसी प्रकार अन्त्य स्वर का प्लुत बनाकर खट्टोऽ निमो बहुत खट्टा नीबू। भ लीऽ मौनी बहुत गो

सुन्दर लड़की—यही प्रभाव पैदा किया गया है।

बहुत सम्भव है यह प्लुत ध्वनि संस्कृत उत के संयोग से आयी हो, किन्तु ह्रस्व स्वरों में यह ध्वनि मध्य में होती है, जैसे,

लाऽल फूल बहुत लाल फूल।

सफ़ऽद (या चिट्टा) कपड़ा बहुत सफ़ेद कपड़ा।

यहाँ स्पष्टतः स्वराघात मध्य में पड़ता है इसलिए उपान्त्य स्वर में ही प्लुत ध्वनि आयी है।

संख्यावाचक विशेषण

गढ़वाली में संख्यावाचक विशेषण हिन्दी तथा उसकी बोलियों के ही अनुरूप हैं। इसलिए यहाँ उन पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं। प्राकृत में एक का उच्चारण एक्क हो गया था। गढ़वाली में वह ऐंक अथवा यैंक है। अनेक प्राकृत में अणेक्क था, गढ़वाली में वह अनि रूप में मिलता है, जैसे अनि मा रघुनाथ को? ग्यारह के लिए प्राकृत की भाँति ही गढ़वाली में एग्यार, अग्यार रूप चलन है। द्वि संस्कृत की तरह ही है। किन्तु समास में संयुक्त होने पर वह दु हो जाता है—दुमुख्या, दुमास्या, दुपया। दो के समूह के लिए प्राकृत में दुवे आता है गढ़वाली में दुय्ये प्रचलित है दुय्ये जणा। बीस के समूह को बीसी कहा जाता है, जैसे, एक बीसी चार बीसी आदि। उसी प्रकार चार के समूह को चौक < चतुष्क कहा जाता है। शब्दों के साथ चार चौ रूप में मिलता है, जैसे, चौसाल, चौराटो। सौ के लिए स शब्द का भी व्यवहार होता है।

क्रमवाचक विशेषणों में हिन्दी की तुलना में कोई अन्तर नहीं मिलता। केवल वे पुलिंग में आकारान्त और स्त्रीलिंग में इकारान्त होते हैं।

गुणात्मक संख्याएँ समान हैं। ये भी पुलिंग में ओकारान्त होता हैं। पट्टी पहाड़ा में एकका दोणी तिर्मा, चौका पजा, छक्का सत्ता, अट्ठा, नमा, दसाकी (दसाक) आदि का व्यवहार होता है।

संख्या का निश्चयात्मक भाव व्यक्त करने के लिए संख्यासूचक शब्द एकारान्त हो जाता है और उपान्त्य व्यंजन द्वित्व हो जाता है, जैसे, दुय्ये, तीन्ने चारें, पान्च आदि।

अनिश्चय का भाव व्यक्त करने के लिए संख्या के साथ एक लगाया जाता है जैसे चारेक, पाँचेक, सातेक बारेक आदि। प्रत्येक संख्या को उसकी बाद वाली संख्या से जोड़कर या कभी भाव प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए द्वि चार, पाँच-सात, दस बार आदि। उसी प्रकार प्रत्येक वाची-संख्या विशेषण के रूप में एकेक दुन्दई आदि रूप संख्या की आवृत्ति से साध्य होते हैं।

संख्यावाची समास सम्बन्धी शब्द भी गढ़वाली में प्राकृत और अपभ्रंश के अनुरूप हैं

दां—एक दां, द्वि दां, (संस्कृत एकदा)।

खुटो गुत्तो < गुत्व दुखुटो, चौखुटो, तिखुटो।

हारो (आरो) < कार तिहारो, एखारो, दुहारो।

वार दोवारो, चौवारो (गुणा के अर्थ में, चतुर्वार > चौवारो)।

सार्वनामिक विशेषणों का परिचय सर्वनाम-सम्बन्धी अध्याय में दे दिया गया है।

क्रिया पद

गढ़वाली में अधिकांश क्रियाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आई हैं। इन स्थितियों से गुजरते हुए मूल रूपों में जो परिवर्तन हुए हैं, उन पर विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना प्रासंगिक होगा कि गढ़वाली में क्रिया रूपों की प्रवृत्ति सरलता की ओर ही अधिक है और काल रचना कृदन्त और सहायक क्रियाओं के तिङन्त तद्भव रूपों के समन्वय से होता है।

सिद्ध धातुएँ

गढ़वाली में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि इन सबकी सूची एक स्थान पर देना सम्भव नहीं। इनमें से अधिकांश हिन्दी के अनुरूप ही हैं।

अनेक धातुएँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, किन्तु वे संस्कृत के मूलरूप को सुरक्षित रखे हुए हैं। उदाहरण के लिए रवाल्टी में बुग (बठना), मान (मप), दिशे (दरयन), मनण (मार), लाण (ली), पाचणू (पाच्), कातणू (कृत) आदि रूप दर्शनीय हैं। दृश धातु रूप माना जाता है पर भाषा-वैज्ञानिक उसका मूल रूप √पश् मानते हैं। गढ़वाली में आज भी उजाले के अर्थ में पश्यालो (जिसमें देखा जा सके) शब्द का प्रयोग होता है।

गढ़वाली की कुछ धातुएँ अपने संस्कृत मूल के साथ यहाँ दी जा रही हैं

कृत > कातणू (रवाल्टी वाली में)
खन > खनणू (खाड नी खणणी)
खिद् > खुदणू, खिजेणू (बाबा जी खिजला)
ग > घुळणू (गळ घुळी घुलो गळा न बिलकी)
जन् > जनणू (जण्यों नौना चिण्या कूड़ा)
मुच् > मुचोणू (रिण मुचे न सको)
चम् > चौंणू (पाणी चौंणू)
कथ > कथणू (कैंथ नी कथणा चदा। सच्ची छैं बोनू कि कथणू छ।)
चित् > चेतणू चितौणू (तू आई मन चिताइनी)
शुध > सुजौणू (कपड़ा सुजाईक कख की त्यारी)

स्म > समझणू (स्वन मैं भी नी समझ्यो)
घ, हु > हुणण (वो हुणला)
मन्त्र > मन्त्रणू (साण मन्त्रणू)
सुन > सौंणु (क्या जो इल सौणक)
मग > मागणू (घर का खातिर आवरी पसी, घूर विचारो बोड़ नशीं।)
नी > नाणा (जो ने मा—रमाली छत्र म)
दय > दयण दयाणु
शप > सपणू (प्राकृत सव, गढ़० सो, नप०)
आ भ > अभाण
ध्यै > ध्याणू (भग तू ध्याय)
शर > सरकणू (गूव * तू डूग सनी क्या छ सरकणी ?)
स्पद > फाटणू (फाडी जाली ऊन)
बुक्क > भूकणू (कुत्ते का भौंकना)
भण > भणनू (गुणनू भणनू)
रिङ्ख > रीगणू (म० चलना गढ़० गाल घेर म घूमना)
वाश > वासणू (पक्षियों का बोलना—गढ़०)
धावय > धोडणू (रितु धोडी पन म)
झुर > झूरणू (जिकुड़ी झूरी क्य बातू दसी नी)
लुप > लुकणू (परमसर, लुकी जा)
भक्ष > भखणू (भूतन भखे)
कड > कलोग (गज्जोडी बन)
छिव छीव > छीजणू (लुको छीजीग पाणीत)
गण > गणनू (गोणी गूणी छ ही प ळ)
पश > पसणू (जन पसणू तब घमण)
चिन > चितणू (चिण्यां कूड़ा जण्या नीना)
मज > मांजणू (भांडा मजोणू)
सृ > सरणू (ओडू सरडूनी)
तड > ताडणू (आंखा ताडणा) व ताडणू
हन > हाणणू (पशुओं का हांकते हुए मारना)
हानले के अनुसार हांकना < हक्क + कृ[1]
वर्ज > वरजणू (मरयाँ क वरजणू होयां क खरचणू)
लिप > लीपणू

---

१ हिन्दी धातु संग्रह, अनुवाद (हिन्दी विद्यापीठ आगरा), पृ० १६

गाय > गावणू (सारा कुन खाजीक भूत)
दुह > दूणू (भैंसी दूणी)
कुच > काचणू (दळा उवा लाठो काचणू)
क्षत् > उतणू (अनि जो खनि)
स्फुर > फफराणू (आजो छन फफराणी)
स्खल > टालणू (उ + खालणू भी होता है)
क्षु > छिऊँण (कभी जाद छिउणू नी)
प्रस्य > पादणू (गटा पादणी बल चूना की)
स्फल > प्रा० प्ररणायक फालइ गढ़० फाळी मारणी
भज > भानणू (बदल स्वाल्टी म)
सट्ट > सस्कृत म मारना क अर्थ म गढ़० सटगौणू तथा रूप सटा—मारने की क्रिया।
लुन > लौणो (फसल काटना)
युध > बूभणू (प्राकृत बुज्झ)
पाच > पाचणू (रवाल्टा म)
सीव > स्यूणू
वाच > वाचणू बच्याणू
चिह्ल > चीणणू (मानु चाना चापा करदी तू इया नी चीनणी)
मौल > मौळणू (मालदति > प्राकृत मौलइ)
मौळी जाली डाळी दुज फूलला बुरास।
कल्प > कल्पणू गढ़वाली म यह क्रिया कल्पना करने के अर्थ म नहीं वरन् दूसर का खान देख मन म उस स्वाद की कल्पना करने तथा नजर लगाने के अर्थ म प्रयुक्त होती है।
भुज > भूजणू (भट भूजणा)
कण > कणाणू (जर भा कणाणू छ)
कास > कासणू
क्षय > छीजणू खजणू
खड्ड (मध्यकालीन आयभाषा) > गाडण
म० जा० भा० √कुट्ट > कूटणू
√कुद > कुद्द > कूदणू
मा० जा० भा० खाज्ज > गाज्ण
गोड > गाडणू
चुण > चूण्डणू

च्युत>चूणू
म० आ० भा० थक्क>थकणू
पूर>पुरणू (गाणू नी पुरण)
वल्गति>बगणू (गाड़ बगणी छ)
वस>बसणू
म० आ० भा० लुक्क—>लुकणू
हृ>हरणू
म० आ० भा० सोट्टइ>सूरण
स्तभ—>थामणू
रच>रचणू रचणू
हिण्ड—>म० आ० भा० हिंडइ>हिटणू
म० आ० भा० मुक्कइ>मूकणू
कई उपसर्ग धातुओं भी गढ़वाली में सिद्ध रूप में मिलती हैं
अभि भ्रज>भीजणू (मर्दों माल भीज)
उप वेष्ट>ओडणू
उत घट>उघाडणू (द्वार उघाड़)
उत-गल>उघाळणू
उत पद>उपजणू
प्रस>पसरणू पसारणू
परि घा>परणू
अव-तृ>औतरणू (देवता औतरणू छ)
परि घट>रीटणू रीडणू
उत खन>उगाडणू
उत चल>उबळणू (सना—उबाळ)
उत-पत>उपाडणू (प्रा० उप्पाड)
अव-लोक अथवा अवलक्ष>अळेखणू (प्रा० अवलक्ख)
नि भालय—> याळणू
वि युष्य—>बीजणू (जागने के अर्थ में)
प्रा-वृत>पोड़ोणू (ढूंग पोडाणू)
वि श्रामय—>विसोणू (भार विसोणू)
उत् वापय—>उस्योणू (मुजी उस्योणी)
उत् जटय—>उजाडणू
प्र उञ्छ>पाजणू (पोछना)

उत्-गल > उखग्णू
परि वीक्ष—>परेखणू
उप विश > बठणू, बुसणू (रवाल्टा म)
ग्प+भूण— >उग्यौणू
उत् वाय— >उच्यौणू (नौना मा वायह उच्याये)
उत्-क्लामय— >उगाळणू (उत् चल् वाला रूप भी)
उत् स्फुर— >उफरणू (धागा उफरि१)
सम भ्रज— >साजणू (सपृतव क्या माजण)
उत् क्ष— >उमेळणू, उखरणू
प्र स्नाति >पहौणू (अमी पहाण)
अव घन— >आगानि >ग० औळया लगणू
वि कृ— >जिवणू (नौना विणच्यू छ)
उप विश >बुगणू (रवाल्टी म)
नि-मन् >यूतणू (तव यूतीन हल्दानी का वाडी)
उत्-ग्राह्य— >उगौणू (रुप्या उगाणा छन)
उत् वपय— >उवाणू (कपडा नी उवाया)
अव हर >अवारणू (मा अवारेइ गैन)

यही नहीं, अनेक णिजन्त भी अपने प्रेरणार्थक रूप और भाव को लुप्त कर सिद्ध धातुओं म परिणत हो गए हैं

अययति >अगौणू (पून अडक उण्डा नारा कुडो)
सवरति >सबाडणू (मत्तू सानू मू मवडान ब्वारीमू)
भेषयति >भुजणू (व की भुजला हाइन)
कोल्यति >कोरणू (भारी-कौरी माँग माया का मुडारो)
छादयति >छौणू (कूडा छौणू छ)
तापयति >तापणू (आग छ तापणू)
स्थापयति>थापणू (मूरत स जनी थापी)
पूरयति >पुरयौणू
समपयति >सौपणू
लिपयति >लीपणू
निष्कासयति >निकसणू (दात ग्यैन छ निकसणू ?)
प्रसारयति>पसारणू पसरणू

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गढवाली की परिवाण धातुएँ तद्भव हैं। हिन्दी की ४०० से अधिक धातुएं जिनका सकलन हानले ने किया है, गढवाली म भी मिलती हैं। किन्तु देशज धातुओं का भी उसम अभाव नहीं। गढवानी का कुछ

ऐसी ही धातुओं की एक संक्षिप्त सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है

हरचणू खोना, लुप्त होना, गवाना
मुंजणू बंद करना, किसी द्वार को बंद करना
गीजणू अभ्यस्त होना
निखोळणू निकालना
उटणू नष्ट होना, बिगड़ना
मुचणू ऋण से मुक्त होना, छूटना
घटणू गाड़ना, खूँटे गाड़ना
बदणू बुलाना, आमंत्रित करना
बोकणू बोझा उठाकर ले जाना
जग्वाळणू प्रतीक्षा करना
डोबणू किसी द्रव में डुबाना
दोखणू पीछे पड़ना, छिपकर देखना
सचणू गर्म होना, तचणू से भिन्न
विरोणू अलग करना
टोमणू टाँगना, छेद करके किसी वस्तु को लगाना
ह्वेसणू घोलना, गाढ़े द्रव से घोलना
छोळणू मथना, पानी मिलाना
सोरणू साफ करना, बुहारना
खिलकणू झपटना
पळणू धातु का द्रवित होना
चळकणू चौंकना, चमकना
जळकणू ईर्ष्या करना
मळकणू उमंगित या स्फुरित होना
तरकणू बूँद बूँद कर किसी द्रव को गिराना
पसोळणू हाथ लगाकर किसी चीज को गर्म करना
पितोड़णू दबाना
तरोळणू फैलाना, बिखेरना
चीभणू दूसरे की दी हुई वस्तु को हाथ में लेना
सिलकणू सीटी मारना
कुरचणू कुचलना
झुरणू दुःखी अथवा कमजोर होना
कुरकणू पशुओं का तेजी से दौड़ना
कोरण छेद करना

भुचणू भोगना सम्भवत संस्कृत भोज से सम्बंधित
भुरचणू गर्मी से भुन जाना
छौंपणू भागकर पकड़ लेना
भटयाणू पुकारना, चिल्लाना
दनकणू दौडना
घेंचणू पीटना
विगचणू बिगडना
झटगणू दौडना
मठौणू माजना, मिटाना
माठणू भेडों की ऊन निकालना
फाकणू किसी पर किये गए उपकार का झगडे के समय प्रकट करना
छौरणू बारीक छेद से बाहर निकलना ।

गढवाली म हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की भी अनेक क्रियाएँ मिलती हैं, जसे

उकळणो चढना, राजस्थानी उकळणो
खोसणो छीनना राजस्थानी खूसणो
खडौणू पानी की धारा को किसी ओर लगाना तुलनीय बगला खाटा
घसणू लीपना, बगला घस—
टीपणू उठाना बगला टिपा—
ढोलणू फेंकना बगला ढला
पुगणू पूरा होना पंजाबी पुग्गणा, लहदा पुगाण, गुजराती पुगवु
रडणू धिसडना, गुजराती रडवु
पोचणू प्रवेश कराना गुजराती कांचवु
सतणू पालना पोसना पंजाबी सतणा
सनकौणू सकेत करना, अवधी सनकारब
तोपणू ढकना (आग तापणा) तुलनीय अवधी तोपना
बुकाणू चबाना अवधी बुकाइब, म० बुक्का—
निमडणू समाप्त हो जाना, अवधी निबरइ
सटकणू भागना, तुलनीय पंजाबी सटकणा
नगणू भागना चला जाना, तुलनीय पंजाबी नग्गणा
खामणू छीनकर उतारना, तुलनीय पंजाबी घस्मणा
घूटणू निगलना घूटना पंजाबी घुट्टणा
गिड्कणू गिडगिडाना पंजाबी गडकणा

चांदणू पता करना पंजाबी चांदणा
ठूरणू गिरना, पंजाबी ठुरणा
नठणा मुकरना पंजाबी नठणा
खरोळणू पकाना, पंजाबी करोळणा
फोळणू नाचना पंजाबी फोळणा

णिजन्त धातुएं

प्राकृत में हसावइ, पठावइ आदि णिजन्त मिलते हैं। मण्डयाली में ये क्रियापद ण्ड आव आ-जान्त से बनते हैं। इस औं प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत आप से हुई है। अपभ्रंश में यह आव अथवा आवे रूप में मिलता है। मण्डयाली में दूसरे प्रेरणार्थक का भी प्रयोग मिलता है जैसे सामान्य प्रेरणार्थक—बो करौंद तथा दूसरा प्रेरणार्थक—बा बन्दा (वह करता है तथा वह करवाता है)। इन धों की व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है आप+आप>आनाप>वा>वा>वा। प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए यहीं न वा आन प्रत्यय का उपयोग भी मिलता है जैसे जलौणू गिरौण दिखाणू गावाळणू जिजाळणू। इसलिए वैज्ञानिक आण के स्थान पर आन प्रत्यय की सम्भावना की है।

नाम धातु

मण्डयाली में नाम धातुएँ णाणू अणू णणू आदि के योग से बनती है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

हाथ—हथ्योणू हथियाना
मिश्र—मिसौणू मिलाना
अस्त—घाटलेणू अस्त होना
भाड़—भड़ौणू पकाना भूनना
अंकुर—अंगरणू अंकुरित होना
उच्च—उच्यौणू ऊपर से फिराना
वाप—वापणू बोलना देखना या बोलना
लम्ब—लम्बौणू लम्बे हाथ करके पकड़ना
विलम्ब—बेल्मेणू विलम्ब करना
पुलक—पुळेणू प्रसन्न होना
वातुल—बौळेणू बावला होना
ताप—तापणू तापना
दुःख—दुखणू दुखना
कची—कच्यौणू कची से काटना

ग्रंथ—गंठयौणू गांठना
गल्प—गल्पयौणू गप्प करना
शीतल—सेळणू ठंडा करना
मल—मलणू मला होना
वाच—बच्याणू बात करना
माप—मापैणू माप देना
जन्म—जरमणू, जामणू (प्रा० जम्मद)
ज्वर—जराणू ज्वर आना
स्थिर—थारैणू स्थिर होना
मुंड—मुंडणू मूंडना
मल—मल्यौणू मोल्यौणू मल करना
मूल्य—मोल्यौणू मान करना
छद—छदणू छेद करना
भेद—भदणू भेद मालूम करना
गौन (<गोमूत्र)—गौनणू गो का मूत्र-त्याग करना
कवाड़ (<कपाट)—ख्वाडणू बन्द करना
असुर—असुरैणू अभिमान करना
छि छि—छिछयाणू छी-छी करना
फल—फळणू फलना
यावन—ज्वतणू जोतना

यह ज्ञातव्य है कि पुल्लिंग में औणू और यौणू प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं और स्त्रीलिंग में एणी।

सप्रत्यय धातुएं

उपसर्ग-युक्त धातुओं का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उसी प्रकार धातु प्रत्यय आल का भी परिचय दिया जा चुका है। गढ़वाली में धातु प्रत्यय अधिक नहीं किन्तु उनमें से कुछ का प्रयोग बहुत व्यापक रूप में मिलता है।

क—यह प्रत्यय हिन्दी में भी विद्यमान है। सम्भव है इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कृ से हुई हो।

बम—कृ>बमकणू
फून—कृ>फूकणू
लुप—कृ>लुकणू
स्फट—कृ>फटकणू
उत—कृ>उतरणू

मिट + क > मिटकण

क प्रत्यययुक्त कुछ अन्य गढ़वाली धातुएँ इस प्रकार हैं

अटगाणू मटकणू नटकणू मुरकणू दमकणू चौंकणू धमकणू लमकण धमकणू बिदकणू ठमकणू धमकणू फरकणू मिमकण भड़कणू छिड़कणू थरकणू धपकणू नपकणू आदि।

ट दपटणू झपटणू रिपटणू निपटणू।

ण्ट पलटणू मलेटणू फेटणू आदि।

इन प्रत्ययों का सम्बन्ध संस्कृत वृत्त से सम्भव है—पद-वृत्त > पोटणू। दप वृत्त > दपटणू झप-वृत्त > झपटणू।

अनुकरणात्मक धातुएँ

गढ़वाली में अनुकरणात्मक अथवा ध्वनिज धातुएँ बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। ये क्रन्दन, गुंजन तथा ध्वनि के अन्य रूपों और प्रतीकों द्वारा निर्मित हुई हैं

गपाड़णू ग्पकणू हीनणू सटपटौणू गूजणू तड़फड़ाणू फूकणू गगड़ाणू, बड़बड़ाणू कड़कड़ाण सगड़ाणू थथराणू भिमलाणू गुणमुणाणू डबड़्याणू छ्णमणाणू, भभराणू पधराणू चचराणू भिमलाणू गुगणाणू थथराणू सपड़्याणू थथराणू नवड़ाणू। गणू फूकरणू छींकणू अगणू नराणू कणाणू टपराणू डगड़्याणू गमग्याण (तुलनीय अपभ्रंश गमजोल्लिय मराठी गजणे गुजराती गमजुणू बंगला गर्ज)।

इन धातुओं में कहीं या तो एक ही ध्वनि में द्वित्व या पुनरुक्ति हुई है या केवल ध्वनि प्रतीक लिए गए हैं।

वाच्य

गढ़वाली में कर्मवाच्य के रूप ए (एंदू) प्रत्यय के संयोग से सिद्ध होते हैं। ब्रजभाषा में यह य रूप में तथा भोजपुरी असमी उड़िया बंगला आदि मागधी प्रसूत भाषाओं में यो रूप में मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति पियर्सन ने याय से निर्धारित की है। याय का गढ़वाली में ए हो जाना सर्वथा अनुकूल है। यहाँ एंदू कर्मवाच्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

त्व से नी करेंदू तुमसे नहीं किया जाता।

प्राकृत में यन्तु समाप्ति-सूचक रूप थे। सम्भवतः लोक में उनका व्यवहार होता था जैसे दीयते > दिज्जाई या दिज्जतु। (पिशल पृ० ७८१) ये यन्तु वाले रूप गढ़वाली एंदू वाले रूपों के निकट ठहरते हैं। कभी कभी कर्मवाच्य के रूप अतीत काल के कृदन्तीय रूप के साथ सहायक क्रिया जा के योग से भी बनाए जाते

हैं। उस अवस्था में भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता

त्वसे नी करयाँ जाँद तुमसे नहीं किया जाता।

उसी प्रकार भविष्यत का भाव भी तत्सम्बन्धी कृदन्त और क्रिया रूपों के योग से ही अभिव्यक्त किया है

त्वसे नी करेण्या तुमसे नहीं किया जाएगा।

मनाणी में भाव वाच्य रूप भिन्न हैं, जैसे, मिन नी करणाय—मुझे नहीं करना है अर्थात् मैं नहीं करूँगा।

प्रायः कर्मवाच्य के रूप सामर्थ्य के भाव और अभाव को सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी कर्ता की कार्यशक्ति (विशेषतः असमर्थता को प्रकट करने के लिए) उसे सम्बन्ध कारक में रखकर उसके साथ कई परसर्ग जोड़ दिया जाता है, जैसे त्वे कू नी होणया (होदू) तुमसे नहीं होगा। यहाँ कई द्वारा के भाव को व्यक्त करता है और इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कृते से सम्भव है किन्तु गढ़वाली में द्वारा शब्द का प्रयोग नहीं होता।

काल रचना

अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की भाँति ही गढ़वाली में भी दो काल हैं (१) मूल काल, (२) कृदन्तीय काल। मौलिक काल के निम्नलिखित रूप मिलते हैं

१ सामान्य वर्तमान

उत्तम पुरुष	करदू (ए० व०)	करदा (ब० व०)
मध्यम पुरुष	करदी, करदो	करदा
अन्य पुरुष	करदो (दू)	करदा, करदन

ये रूप पंजाबी के समान दकारान्त हैं। अपभ्रंश में इकारान्त रूप मिलते हैं—करति > करइ। गढ़वाली में इस प्रकार के रूप केवल आज्ञा, अनुनय विनय और विधि रूपों में ही मिलते हैं जहाँ ई पूर्ववर्ती अ से संयुक्त हो जाता है—जरा तू मैं दाड़ी चली। तक वागीश ने भी हसेदि उदाहरण दिया है। यहाँ ति > दि परिवर्तन अपभ्रंश के अनुकूल है। ऐसे प्रयोग अपवाद माने जाते हैं किन्तु इसमें इतना तो स्पष्ट है कि अपभ्रंश का कोई रूप ऐसा अवश्य रहा होगा, जिसमें ये प्रमाण प्रचलित रहे होंगे। एक और बात ध्यान देने योग्य यह है कि अपभ्रंश में भी वर्तमान की क्रिया और भविष्यत् क्रिया में समानता मिलती है और एक के लिए दूसरे का प्रयोग भी मिलता है।[1] गढ़वाली में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण मिलता है।

---

१ डॉ० वीरेंद्र श्रीवास्तव अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० २१४

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि मूल काल के रूपों को अपना वर्तमान काल के कृदन्त वाले रूप ही किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होने लगे। सम्भवतः इस प्रकार के प्रयोगों का चलन आरम्भ आर्यभाषा के मध्य कालीन विकास में ही हो गया था। अपभ्रंश में करन्तु, सुणन्तु आदि रूप मिलते हैं। गढ़वाली में वर्तमान काल के कृदन्त का विकास इस प्रकार हुआ होगा— पठन्त > पठतऊ > पठन्तु > पढ्दू। गढ़वाल में कुछ अंचलों में अनुनासिक युक्त व्यंजन लुप्त हो गया है केवल अनुनासिक रह गया है जाँदू जाँनू।

वस्तुतः संस्कृत के सामान्य वर्तमान के रूप सम्भवतः गढ़वाली में आना चाहने के लिए प्रयुक्त होने लगे द्रक्षामि > देखऊँ द्रक्षाम > दखौं। किन्तु रवाँई-जौनपुरी की बोली में सामान्य वर्तमान में कृदन्तीय रूपों की अपेक्षा संस्कृत आमि आव आम आदि से विकसित रूप ही प्रयुक्त होते हैं। गढ़वाल और कुमाऊँ की सीमा पर भी ऐसे ही रूप मिलते हैं—स्याळा जामूं घर जाता हूं।

२ सामान्य भूत

सामान्य भूत के रूप संस्कृत के निकट ठहरते हैं

उ० पु०	चल्यूं (अचलवम)	चल्यां (अचलाम)
म० पु०	चल्यो (अचलो)	चल्या (अचलत)
अ० पु०	चल्यो (अचलात)	चलिन (अचलन्त)

३ सामान्य भविष्यत

सामान्य भविष्यत के रूप गढ़वाली में संस्कृत के अनुरूप नहीं हैं। उसमें भविष्यत के क्रिया रूप सभी पुरुषों में लो लू (एकवचन) ला (ब० व०) लगाकर बनते हैं। स्त्रीलिंग में केवल एकवचन में ला ली हो जाता है।

उत्तम पुरुष	चललू (चलला)	चलला
मध्यम पुरुष	चललू (स्त्री० चलली)	चलला (स्त्री० चलली भी)
अन्य पुरुष	चललू (स्त्री० चलला)	चलला (स्त्री० चलला भी)

वास्तव में आरम्भिक भारोपीय भाषा में भविष्यत् नहीं था। आर्य भी प्रारम्भ में काल भेद से अच्छी तरह परिचित न थे। फलतः गढ़वाली में आज भी भविष्यत् की व्यंजना वर्तमान काल के क्रिया रूप से सम्भव है।

ल प्रत्यययुक्त काल

ल भविष्यत का ही नहीं वर्तमान और भूतकाल का प्रत्यय भी है। लू लो प्रत्यय का प्रयोग भविष्यत में ही होता है किन्तु उसका व्यवहार कभी वर्तमान का भाव व्यक्त करने के लिए भी होता है। वस्तुतः एक काल के कृदन्त से दूसरे

काल का काम लेने की प्रवृत्ति अनेक भाषाओं में मिलती है। गढ़वाली में मैं चललू से चलता हूँ और चलूँगा कभी ये दोनों अर्थ व्यक्त किये जाते हैं। इसी तरह कर्म-वाच्य में भी इसका प्रयोग विशेष होता है जहाँ यह कार्य की प्रेरणा का द्योतन करता लगता है

काटी जालो घास = घास काटा जाता है।

इसी प्रकार इसका भूतकालिक प्रयोग (वह भूत जो बहुत पुराना नहीं) भी होता है मिन किताब पढ़ले, या पढ़ियाले। इससे भी भिन्न, कर्मवाच्य में इसका प्रयोग यों सम्भव है

घास कटेई गलो = घास काटा गया होगा।

इन प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि ल प्रत्यय मुख्यतः भविष्यत् का रहा होगा किन्तु अतीत और वर्तमान के भावों को व्यक्त करने के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता रहा होगा। किन्तु ऊपर दिए गए उदाहरणों में ल प्रत्यय का इस प्रकार का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि भूतकाल में इसका प्रयोग गौण रहा होगा। मराठी में भूतकालिक ल के प्रयोग मिलते हैं, जैसे रामाने मुरा लाडू दिले, या मला दोनी दिला (उद्धृत 'भारतीय भाषा विज्ञान'—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी)। गढ़वाली में दिले या दिलो के स्थान पर दिने, दिनी का प्रयोग होता है। ल > न गढ़वाली में एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ल प्रत्यय का विकास मध्यकाल आर्यभाषा में हुआ प्रतीत होता है। भूतकालिक कृदन्त के रूप में इसका प्रयोग मराठी के अतिरिक्त गुजराती, बंगला, बिहारी तथा हिन्दुकुश की कुछ बोलियों में भी मिलता है। तुलनीय मराठी गया वाला सुतिल, गढ़वाली—गया सदला। गुजराती में इसका प्रयोग विरल है। बिहारी और उड़िया में इसका अभाव नहीं है जैसे बिहारी देखल, उड़िया देखिला।

यह ल प्रत्यय अन्य भारतीय नव्य आर्यभाषाओं में भी विद्यमान है। ल बंगला उड़िया मराठी और असमी में इल राजस्थानी में लउ तथा बिहारी और भोजपुरी में अल रूप में मिलता है। अवधी में भी ल वाले भूतकालिक रूपों के संकेत मिलते हैं।[1] ल भविष्यत की व्युत्पत्ति ब्लाख ने संस्कृत धातुओं से दी है।[2] डॉ० चाटुर्ज्या ने इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत त अथवा इत के साथ विशेषणीय अथवा स्वार्थिक ल से निर्धारित की है।[3] ल-वर्तमान का सम्बन्ध डॉ० उदय नारायण तिवारी संस्कृत लग धातु से सम्बन्धित मानते हैं।[4] किन्तु वर्तमान अतीत और भविष्यत के ल प्रत्यय का उद्गम तीनों कालों में भिन्न भिन्न सम्भव नहीं।

---

1 इवोल्यूशन ऑफ अवधी, पृ० २८६

2 ला मराठे, परिच्छेद २४२

3 ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ बेंगाली लैंग्वेज पृ० ६२७

4 भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० २७५

गढ़वाली में यह प्रत्यय या तो मागधी के प्रभाव से आया होगा या दरद से। कुछ लोग इसे राजस्थानी प्रभाव के रूप में भी ले सकते हैं।

यह भी सम्भव है कि यह प्रत्यय लौकिक व्यवहार में आता रहा हो। बीम्स (कम्पेरेटिव ग्रमर, जिल्द ३) के इस कथन में सत्यता प्रतीत होती है कि यह किसी ऐसे प्राचीन रूप का अवशेष है जो कभी लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होता रहा होगा और भारोपीय परिवार की बहुत-सी भाषाओं में उनके परस्पर पृथक होने से पहले विद्यमान रहा होगा। डॉ॰ टैसिटोरी ने भण्डारकर और स्टेन कोनो (क्रमशः विल्सन लेक्चर्स और नोट्स ऑन द पास्ट टेंस इन मराठी में) के मत का समर्थन करते हुए ल की व्युत्पत्ति इल्ल > ल्ल से मानी है।

घटमान काल समूह

गढ़वाली में निश्चयार्थक घटमान् वर्तमान धातु के साथ एकवचन में णू और बहुवचन में णा जोड़कर बनाया जाता है। इसके साथ सहायक क्रिया छ भी साथ रहती है जैसे चलणू छौं हम चलणा छाँ। टिहरी नगर के आस पास सहायक क्रिया रह प्रयोग में आता है जैसे मैं चल रह्‌ू हम चल रहाँ। मुख्य क्रिया अविकृत रहती है, केवल पुरुष और वचन के अनुसार सहायक क्रिया में ही परिवर्तन आते हैं।

घटमान अतीत के रूप धातु के साथ एकवचन में णू णो तथा बहुवचन णा लगाकर सहायक क्रिया के भूतकालिक रूप के संयोग से सम्पन्न होते हैं जैसे—वो चलणू छो वो औणू थो। टिहरी के आस पास छ की अपेक्षा थो का प्रयोग मिलता है वो चल र थो तथा हम चल र थान। घटमान अतीत में सब पुरुषों में ए॰ व॰ में चलणू छौ और बहुवचन में चलणा छा रूप मिलते हैं।

घटमान् भविष्यत् के रूप क्रिया के उसी रूप के साथ सहायक क्रिया हो के भविष्यत्कालीय सप्रत्यय रूप के संयोग से बनते हैं, जैसे—ए॰ व॰ में सभी पुरुषों में चलणू होलो बहुवचन में चलणा होला। सामान्य भविष्य में ए॰ व॰ चललो ब॰ व॰ चलला रूप बनते हैं।

पुराघटित वर्तमान क्रिया के मूल रूप के साथ ले या याले के योग से व्यक्त होता है मन देखले या देख्याल। उसी प्रकार पुराघटित अतीत के रूप सहायक क्रिया के छ के भूतकालिक रूप के योग से बनाए जाते हैं जैसे—मन देखल (देख्यान) छौ (थौ)।

सम्भाव्य अतीत भविष्यत् और वर्तमान के रूप क्रिया के णू वाले रूप के साथ हो सहायक क्रिया के कालीय रूपों के योग से साध्य हैं।

इच्छार्थक और आज्ञार्थक रूप

गढ़वाली में इच्छार्थक और आज्ञार्थक रूप संस्कृत से विकसित हुए हैं।

आज्ञार्थक रूप इस प्रकार चलते हैं

उत्तम पुरुष	चलू	चला, चलौं
मध्यम पुरुष	चल	चला, चल्या, चल्यान
अन्य पुरुष	चलो	चलन, चलीन

शौरसेनी और मागधी में इसके लिए समाप्तिसूचक चिह्न आहि और एहि थे। अन्य पुरुष का एकवचन क्रिया के साथ उ जोड़कर बनाने का विधान था। शौरसेनी मागधी और टक्की में सु दु हो जाता था। गढ़वाली में भी यह प्रवृत्ति सुरक्षित है—श्रवणातु > सुणों या सुण दु। मराठी में चलानि, सुणाति।

मध्यम पुरुष में इकारान्त प्रयोग भी मिलता है जस, तु जाद — तू जाना। ब० व० तुम जामान अथवा तुम जाया। अपभ्रंश में भी इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। अन्य पुरुष बहुवचन में अपभ्रंश में अउ < अनु प्रयोग होता था। क्रमदीश्वर ने अन्य पुरुष बहुवचन में हु और उत्तम पुरुष एकवचन में उ प्रत्यय का विधान किया है।[1]

वास्तव में आज्ञार्थक और इच्छार्थक रूप गढ़वाली में भिन्न नहीं हैं। एक-से रूप दोनों में काम आते हैं। किन्तु गढ़वाल के कुछ भागों में ऐसे रूप भी प्रचलित हैं जिनसे यह अनुमान लगता है कि संस्कृत के विधि लिङ् के रूप भी लोक में व्यवहृत रहे होंगे। हिन्दी में दए, जिए और प्राकृत में इज्जा वाले रूप मिलते हैं। इसी प्रकार गढ़वाली में कहीं इया वाले रूप उपलब्ध होते हैं, जैसे—कुयान > करया या करिया भूयान>होया। बहुवचन में न और जुड़ जाता है करियान होयान।

कृदन्तीय काल

गढ़वाली में कृदन्तीय रूपों का प्रयोग ही अधिक होता है। यह राजशेखर के इस कथन की उदीच्य जन कृदन्तप्रिय होते हैं—कृत्प्रिया उदीच्या —की पूरी तरह पुष्टि करता है।

वर्तमानकालिक कृदन्त धातु के साथ दु (दो) प्रत्यय के योग से बनता है। संस्कृत का यह शतृ प्रत्यय अपभ्रंश में अन्त रूप में मिलता है। इसका विकास इस प्रकार हुआ है चलत>चलन्तो>चलदो। यह कृदन्त रूप मानभुरी, बंगला, उड़िया असमी ब्रज आदि कई भाषाओं में समान रूप से पाया जाता है। स्त्रीलिंग में यह इकारान्त (चलदी) हो जाता है। तुलनीय है गढ़वाली मारदो, ब्रज मारतु पंजाबी मारदा, राजस्थानी मारतो सिन्धी मारींदो। दो में पहले का स्वर गढ़वाली में प्राय अनुनासिक हो जाता है, जैसे औंदो गांदो आदि।

[1] डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव अपभ्रंश भाषा का अध्ययन पृ० २११

भूतकालिक कृदन्त रूप संस्कृत के क्त से गढ़वाली में ओ रूप में विकसित हुआ है, पतित > पड्या । इसमें धातु का अन्त्य स्वर लुप्त हो जाता है और उसके साथ यो (अन्य धातुओं में या) जुड़ जाता है । यो, या के स्थान पर ई भी (जब अन्त्य स्वर अ, इ, ए, ओ हो) यो (स्त्री० ई) का भी प्रयोग होता है, जैसे—लिया लियो दियो । ये रूप अपभ्रंश में भी थे । ब्रज आदि के दीन्ह कीन्ह दीना कीना आदि रूप भी तुलनीय हैं।

पूर्वकालिक कृदन्त रूप बनाने के लिए संस्कृत में धातु के साथ त्वा तथा य प्रत्यय लगाए जाते हैं । अपभ्रंश में इ प्रत्यय की प्रधानता मिली । प्राकृत में इय मिलता है । गढ़वाली में संस्कृत का य प्रत्यय नहीं है और इ की (विशेषतः स्त्रीलिंग में) इस रूप में मिलता है । गढ़वाली में इ का प्रयोग ही व्यापक है मारिइ, पीटीइ भागी रूप । जैसे देखिइ जाना । इ इ सङ्कुचित होकर ई बन गया है जैसे मारी पीटी । इ की यहाँ ध्वनि इतनी निर्बल होती गई कि बाद में उसके साथ क या पूर्वकालिक कृदन्त सूचक क प्रत्यय रूप में आने लगा जैसे देखिक मारिक पीटिक अथवा देखिका, मारिका पीटिका । अतः गढ़वाली में दोनों प्रत्यय इ और क प्रायः साथ सुनने में आते हैं । यह स्थिति अन्य भाषाओं में है । सम्भवतः अवहट्ठ में ही इसका प्रारम्भ हो चुका था । तुलनीय ब्रज अवधी करि गढ़वाली करिइ ब्रज अवधी देखि गढ़वाली देखिक दौड़ीक देखिका।

भविष्यत् काल का कृदन्त गढ़वाली में अधिक प्रयोग में नहीं आता । धातु के साथ ण्या जोड़कर जो रूप साध्य होते हैं उनमें किंचित् भविष्यत् का भाव अवश्य होता है किन्तु उनमें कर्तव्य अथवा आवश्यकता का विचार विशेष महत्त्व का होता है । मैं भी करण्या—मैं भी करूँगा । यह रूप संस्कृत अनीय और अपभ्रंश के अणीय से विकसित है । कर्मवाच्य में यह णी रूप में हो जाता है हमारी बात बन जाण की हमारी जान जानेगा ।

इन कृदन्तों का प्रयोग विशेषणवत् भी होता है । संस्कृत तन प्रत्यय अपभ्रंश में एल्लउ हुए अउ आदि रूपों में मिलता है । अउ का ऐ रूप भी यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं । गढ़वाली में यह प्रत्यय यू रूप में आया है पतनम् > प्रा० दरिद्दक > गढ़० मरयू । स्त्रीलिंग रूप दराण्ड ... । क्रियार्थक संज्ञा के रूप में—काम करयो बिना न जाइ काम किये बिना न जाना । गुस्सा करीक्या फायदा—गुस्सा करके क्या फायदा । बिराली मारी मकुन देखे दूध पियूं नी देखी—बिल्ली मारा हुआ मक्खन देखा दूध पिया हुआ किसी ने नहीं देखा । करी < कृत । इसी प्रकार अनीय प्रत्यय के योग से निर्मित क्रिया रूप विशेषण की तरह भी प्रयोग में लाए जाते हैं जैसे करण्या काम मरण्या मनख्या ।

इसी प्रकार धातु के साथ ण या णो प्रत्यय जोड़कर क्रियावाचक विशेष्यपद

---

१ गढ़वाली लोकगीत, पृ० १२८, २२

बनाये जाते हैं जैसे बज से बाजणो, चल से चलणा या चलण, बठ से बठणा या बठूण। ण और ऊण प्रत्ययों का भी गढ़वाली में प्रयोग मिलता है। इनके अनुरूप ही संस्कृत में अन रूप मिलता है। प्राकृत में ताण या तूण के योग से क्रियार्थक संज्ञाएँ का एक और रूप पाया जाता है जिसकी वैदिक रूप से कल्पना त्वानम् के रूप में की गई है। गढ़वाली ऊण और प्राकृत तूण और अपभ्रंश अण अणु अणहम्, अणहिम् में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। ऊण के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—रो—रोऊण प ढ़—पढूण, समझ—समझूण, पढ—पढूण, जम—जमूण आदि। प्राकृत ताण के अनुरूप गढ़वाली का याण, याण अथवा याण प्रत्यय उल्लेखनीय है—धप—धप्याण मुज—मुज्याण, ठौंक—ठौंक्याण, ठक—ठक्याण जम—जमाण, बोल—बोलाण आदि। सम्भवत प्राकृत और अपभ्रंश में भी ऊण प्रत्यय था जो बुज्झिऊण, भज्जिऊण जैसे शब्दों में मिलता है। हिन्दी में ना, सिन्धी में नु लहन्दा उण बुन्देली अन राजस्थानी णो ब्रज नौ, पंजाबी णा तथा मराठी ण रूप इसके अनुरूप ही हैं।

क्रियावाचक विशेष्य पद बनाने के अतिरिक्त णू वर्तमानकालिक कृदन्त बनाने के लिए भी प्रयुक्त होता है, जैसे घर जाणू छऊँ—मैं घर जा रहा हूँ। यह प्रत्यय संस्कृत शानच—मान—का अवशेष प्रतीत होता है। महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश में भी इसका प्रयोग मिलता है जैसे, पिच्छमाणु गच्छमाणु आदि।[1]

ई प्रत्यय का प्रयोग द्वित्व रूप में अधिक मिलता है। उदाहरण के लिए धौंपा धौंपी मचा-मरी चला चली, दबा-दबी लुका छुपा काटा काटा चाटा-चाटा, मारा मारा, भगा भगी आदि। इसी प्रकार आई प्रत्यय के योग से अनेक क्रियाएँ भाववाचक संज्ञा का काम देती हैं—चल से चलाई हिट से हिटाई रोप से रोपाई, दौड़ से दौड़ाई, रो से रोवाई, देख से देखाई, खोल से खोलाई, छूट से छुटाई आदि।

अपभ्रंश में क्रियार्थक हेत्वर्थ कृदन्त के समाप्तिसूचक चिह्न अणहुँ माणाहि, अणाहिं तथा एविणु थे गढ़वाली में णों और णू का प्रयोग किया जाता है जैसे वो खाणू' (क) तयार दन बठ्या। खाण एन वा घर। संस्कृत तुम से विकसित ये रूप परस्पर तुलनीय हैं। णों या णू का प्रयोग में ध्वनि के लोप की क्षतिपूर्ति के कारण क तथा ल, लाई (ल) के साथ होता है।

निश्चयार्थक वर्तमान

	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पुरुष	छऊँ=हूँ	छाँ, छवा
मध्यम पुरुष	छई	छवा
अन्य पुरुष	छ	छन

[1] डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव — भाषा का अध्ययन पृ० २२

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

मैं जांदू छऊ	मैं जाता हूँ।
हम जांदा छवां	हम जाते हैं।
तू जांदी (जांदो) छई	तू जाता है।
तुम जांदा छा	तुम जाते हो।
वो जांदू छ	वह जाता है।
वा जांदा छन	वे जाते हैं।

छ का वर्तमानकालिक कृदन्त रूप छन्त बनता है—आच्छन्तः > अच्छन्तउ > छताउ > छन्दउ > छन्द छन्त। छन्दा बल्द स्या हैबी का घर बठी—पति के होते हुए वह दूसरे घर जा बैठी। हिन्दी की बोलियों में इसका प्रयोग बहुत रूप में मिलता है।

सहायक क्रिया

गढ़वाली में छ प्रमुख सहायक क्रिया है। इसका प्रयोग गढ़वाली में ही नहीं वरन् समस्त हिमालयी बोलियों, राजस्थानी गुजराती बंगला आदि में भी होता है। टर्नर ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत क्षि–क्षे से मानी है। टेसिटोरी ने ऋच्छति से अच्छई की निष्पत्ति स्वीकार की है। उस अवस्था में अच्छई से अ के लोप से छई रूप की उपलब्धि सम्भव है। अस धातु को छ से सम्बन्धित किया जा सकता है। गढ़वाली में स्त छ में परिवर्तित हो सकता है जैसे अस्त—>अछाणु। इस प्रकार अस्ति का अच्छि हो जाना असम्भव नहीं। प्राकृत में अच्छ और अपभ्रंश में अच्छ या अच्छि रूप उपलब्ध होते हैं। अवहट्ठ और आरम्भिक अवधी में भी अछ वाले रूप विद्यमान थे। गढ़वाली में छ केवल वर्तमान में प्रयुक्त होती है। कुछ भागों में भूतकाल में थ वाले रूप मिलते हैं। हिन्दी था के अनुरूप ही थो, था आदि रूपों की व्युत्पत्ति अस धातु से सम्भव है। कुछ लोग भू और स्थ से भी उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्धमागधी में यह क्रिया ठिया और ठिय रूप में विद्यमान था। इसी दृष्टि से निमाड़ी बोली का था, नेपाली थियो, उड़िया थिलो, लहन्दा थिउसे मालवी थो और गढ़वाली थो (एक वचन) था, थान (बहु वचन) तुलनीय हैं। भूत निश्चयार्थक के लिए हिन्दी की कई बोलियों में हुतो का प्रयोग मिलता है। गढ़वाली का थो इसके निकट है। गढ़वाल में थ वाले रूप कहीं तो (पुल्लिंग) तीं (स्त्रीलिंग) रूप में भी प्रयोग में आते हैं। उदाहरण के लिए तेरी बैण हरची ग ती। तेरा भाई हरची ग तो। डा० टेसिटोरी इन रूपों की व्युत्पत्ति* स्थितक से मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका विचार है इस व्युत्पत्ति के पक्ष में हिमालय की बोलियाँ के प्रमाण हैं। वहाँ गढ़वाली और नेपाली में थयो, थियो जैसे रूप मिलते हैं जिनसे स्पष्ट सूचित होता है कि इनका मूल स्रोत स्थित—ही रहा होगा।

लेकिन इसके विपरीत ज्यों हम गुजरात और राजपूताना की बोलियों की ओर आते हैं हमें हतो और थो दो प्रकार के रूप मिलते हैं। इनका प्रयोग प्रायः एक-दूसरे के समानान्तर इस तरह मिलता है कि इनकी एकता में सन्देह करना कठिन है। यही व्युत्पत्ति साहित्यिक हिन्दी में था के लिए भी लागू होता है।[1]

अस्ति का आथि और नास्ति का नाथि (न्हाति भी) रूप गढ़वाली की रवाल्टा और जौनपुरी बोलियों में मिलते हैं। किन्तु ये रूप प्रायः स्वीकृति, अस्वीकृति तथा स्थितिसूचक मात्र होते हैं। प्राकृत, मराठी, राजस्थानी, गुजराती तथा हिमाली भाषाओं में ये रूप सर्वत्र मिलते हैं। अपभ्रंश में अत्थि रूप प्रचलित था।

छ और थ वर्गीय सहायक क्रियाओं के भविष्यत् के रूप नहीं होते। भविष्यत् में ला, लो प्रत्यय युक्त ही क्रिया का प्रयोग होता है। छ और थ के वर्गीय रूप यहाँ प्रस्तुत हैं

वर्तमान

उत्तम पुरुष	छौं, छऊ (ए० व०)	छवों, छों (ब० व०)
मध्यम पुरुष	छै	छवा
अन्य पुरुष	छ	छन

भूतकाल

उत्तम पुरुष	छो छया, थो, थया	छा, छया, थान, थया
मध्यम पुरुष	छौ छया, थौ थयो	छा, छया, था, थया
अन्य पुरुष	छो, छया थो, थया	छा, छया, था, थान

संयुक्त क्रिया

संयुक्त क्रियाएँ प्रायः कृदन्तों से संयुक्त मिलती है। टिहरी के आस पास के क्षेत्रों में र (रह) का प्रयोग घटमान वर्तमान में विशेष मिलता है, जैसे घर जै रयूं। इसके अतिरिक्त करणो, जाणो, चाणो, लगणो, लेणो, दसणो, पड़णो, उठणो आदि प्रमुख संयुक्त क्रियाएँ हैं करणो के प्रयोग की विशिष्टता द्रष्टव्य है जो करा (जाना के अर्थ में) हो करा जान करी। इनमें चाणो से इच्छा का बोध होता है। सकणो से सामर्थ्य आज्ञा या अनुमोदन का भाव व्यक्त किया जाता है। या ही देणो या देणो से अनुमति या अनुमोदन, लगणो से कार्य का आरम्भ पड़णो से नित्यता जाणो से भूतकाल में कार्य की समाप्ति और रखणो में कार्य की पूर्णता का भाव निहित होता है।

१ पुरानी राजस्थानी (अनुवाद डॉ० नामवरसिंह), पृ० १४१

भाव की निरन्तरता या आवृत्ति को प्रकट करने के लिए कभी क्रिया के रूप में द्विरुक्ति दिखाई देती है। गढ़वाली में इसके दो रूप मिलते हैं (१) एक ही क्रिया का रूप दुहराई जाती है और (२) दो समानार्थी या सहचर भाव वाली क्रियाएँ परस्पर संयुक्त हो जाती हैं जैसे— रोवदा-गान्दा, खा-पीन्दा, पढ़न लगन कूददा-नीसदा, बाण्णा नळदा, हिटणा-चलणा बोलणा चालणा आदि।

गढ़वाली में वस्तुतः सहायक क्रियाओं और संयुक्त क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दुहरा के संयोग से वे ही भाव और अर्थ की अभिव्यक्ति करती है।

अव्यय

गढ़वाली में भी अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति ही संज्ञा पदों, सर्वनामों तथा विशेषणों से अव्यय बने हैं। इनमें से अधिकांश अव्यय संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आए हैं। उनका सामान्य परिचय दिया जाता है :

कालवाचक अव्यय

निम्नलिखित कालवाचक अव्यय विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं :

आज (अद्य), अजि (अद्यापि), भोल (अन्य वला) प्रभात (सुबह को), ब्यालि (विभान > विहान, विकाल), सनसवाले (सवाले), सणई, सबेर (सवला), सबेर (सवला), अज्जो (अद्यापि), ब्याळुणी (विभण), झट्ट (झटिति), आग (अग्रे), अमणी, पाछ (पश्च), पौर (पश्च), परार (परपरत, परारि), ऐंसु (एषम्), सदानी (सदातन), नित (नित्य) आदि।

सर्वनाम सम्बन्धी अव्यय अब, जब, कब आदि गढ़वाली में अनेक पर्यायों के साथ मिलते हैं। एक रूप में व हिन्दी के अनुरूप ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उनका दूसरा रूप अबारे (अवारि), जबारे (जवार), तबरे, कबरे (कवार) आदि रूपों में मिलता है। इन शब्दों का सम्बन्ध स्पष्टत: वेला शब्द से है। बारे वाले ये रूप कालवाचक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जैसे जवार जवारी जवर = जिस समय। इस प्रकार के कालवाचक क्रिया विशेषण प्राचीन राजस्थानी में भी मिलते हैं : जिवारइं, तिवारइं, किवारइं आदि। आधुनिक गुजराती में ज्यारे, त्यारे, क्यारे रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जदि, कदि, तदि का भी प्रयोग होता है। इनकी व्युत्पत्ति यदा, तदा, कदा आदि रूपों से स्पष्ट ही है। जदि काल रूप कहीं जर्बे, तब, कबें (जब, तबें, कबें) रूप में भी मिलते हैं, जबें जालो तब मैं बोलदो। या जब्येंर (जब्ये) जालो सी मिली जान। जें, तें, कें आदि रूप भी इन्हीं रूपों के अनुरूप लगते हैं : जें जालो त बोलो दे। यत्र का जाद और तत्र का ताइ रूप प्राकृत में भी मिलता है। प्राकृत में जाहे और ताहे रूप भी मिलते हैं। अपभ्रंश में कदा > कया, कया तथा जया, जया < यत्र भी इस दृष्टि से तुलनीय हैं। अभी के अर्थ में गढ़वाल में कहीं अमणो शब्द का प्रयोग होता है। यह जैन महाराष्ट्री प्राकृत में एहिं (अस्मिन्) रूप में आया है।

स्थानवाचक अव्यय

स्थानवाचक अव्ययों में विशेष ये हैं यख (अयत्र) सख (सत्र) नेड़ (निकट), पास (पार्श्वे) भेर (बहि), भित्र (अभ्यंतर) सौळ (तल), भुइं (नीचे भूमि) ऐंच (उच्च स्थान) मथे (मस्तके) उन्धो (ऊर्ध्व) योर, पोर वार (अवार), पार (पार) उंदो (अध) मुड़ (मूल) अगाड़ी (अग्रे)।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अव्यय इस प्रकार हैं

निस्स (नीचे) येड (नीचे) ढीस (ऊपर), ओज (ओर) उडू (इधर) कडू (उधर)।

अरबी-फारसी से भी कुछ अव्यय सम्मिलित हुए हैं जैसे—नजीक तरप।

सर्वनाम मूलक अव्ययों के यह रूप मिलते हैं

यन वन तन कन जन।

यत्थ वत्थ तत्थ जत्थ।

इथ उथ तथ कथैं जथ।

यें वें जें तें कें।

ये सब रूप एक-दूसरे के पर्याय हैं। यत्थ वत्थ आदि रूप स्पष्टतः यत्र तत्र आदि संस्कृत रूपों से निष्पन्न हैं। प्राकृत में एत्तहे, तत्तहे रूपों के साथ यत्थ, तत्थ आदि रूप भी उपलब्ध होते हैं। अनुस्वार युक्त इथ उथ वाले रूप यत्र तत्र आदि रूपों के साथ तन प्रत्यय अथवा अपि के प्रयोग से बन हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि ये रूप स्थाने प्रत्यय के योग से साध्य हुए हों जैसे तत्स्थाने> तथ, एतत्स्थाने> इथ आदि। अपभ्रंश में एत्थु, जेत्थु, तेत्थु, केत्थु (सिद्ध हेम० ४/४०५) आदि रूप मिलते हैं। इस प्रकार गढ़वाली से मिलते-जुलते रूप सिंधी राजस्थानी गुजराती और पंजाबी में भी उपलब्ध होते हैं। मराठी में भी क्रिया विशेषणात्मक अधिकरण रूप येथें, जेथें आदि रूप भी इस दृष्टि से तुलनीय हैं।

यन वन आदि रूप दश के योग से निष्पन्न हुए प्रतीत होते हैं जैसे एतद्दश यन। जें तें यें वें आदि काल वाचक अव्यय स्थान वाचक भी बन जाते हैं। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति थी।[1] कें छ जाणू जें जाणू हो तें साइ दों रवटी जैसे प्रयोग गढ़वाल के कुछ भागों में सामान्य हैं। प्राकृत में जहं जहिं, कहं, कहिं आदि रूप मिलते हैं। गढ़वाल में कहीं कें जें तें के स्थान पर आकारान्त रूप भी मिलते हैं जैसे काऊँ जाऊँ ताऊँ आदि। यह प्रवृत्ति प्राकृत और अपभ्रंश में भी थी जैसे

कुत्र > काह > काहि कहिं तथा केत्थु, गढ़० काऊँ

कुत > कउ > गढ़वाली कँ

---

[1] पिशल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण ४२

कुत्राऽपि > कत्यवी > गढवाली कयइ
यत्र > ऐत्यू > गढवाली यत्य तथा अप० जहिं, जत्थु जेत्थि
यत > गढवाली जें
तत्र > तेत्थु > गढवाली तत्य, अप० तत्थ, तेत्थु तित्थु
तत > तो तु > गढवाली तें
अत्र > इत्थ > इहु > इहा > गढवाली यत्य, यें।

परिमाणवाचक अव्यय

परिमाण वाचक क्रिया विशेषण इस प्रकार हैं
हौर (अपर) भौत (बहुत्व) इस्से (ईषत्) भिडी (भाडय), जादा (ज्यादा) कम, मस्त (बहुत), कणक (जरा-सा) अमिय्या (अमित) जरा, भौत, जास्ती।

सर्वनामजात परिमाण-वाचक विशेषण क्या, जथा, तथा आदि का परिचय पीछे दिया जा चुका है। कभी इनके साथ का (गा) प्रत्यय भी जुड़ा मिलता है जस कथगा, जथगा, उथगा, इथगा। का या गा वास्तव में परिमाण की अल्पता का भाव व्यक्त करता है। पालि में एतक, कित्तक तथा प्राकृत में एत्तिय, केत्तिय आदि रूप मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय पर डा० चाटुर्ज्या ने पूर्णत विचार किया है।

रीति वाचक अव्यय

रीति-वाचक अव्ययों में एसो, जसो, कसो (ऐसा जैसा कैसा) उल्लेखनीय है। इनका एक दूसरा रूप भी मिलता है इनो, जनो, कनो तनो, उनो। हिन्दी की बोलियों में इमि किमि तिमि आदि प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश में एउंम, जउंम, केउंम रूप मिलते हैं जिनके संस्कृत मूल की कल्पना टसाटोरीन इस प्रकार की है एव * येव * तव * केव।

इनो तनो (पु०) इनी, तनी (स्त्री०) आदि रूपों के मूल की कल्पना अपभ्रंश एमु एउँ इउ एम एमई एवि (<एव) एमहिम् (<इदानीम) आदि के आधार पर की जा सकती है।

सम्बन्ध वाचक समुच्चय वाचक

इसके अनेक रूप मिलते हैं
१ अर औरु, आर
२ फिर, फेर
३ दौ तु दौ मैं जौला—तू और मैं चलेंगे।

४ चा जा चा (जा) जान चानि जो चाहे जान चनो जाय ।
५ जाणि < जान मन सुपिना मेंऽ जाणि मैं बण वण मा छौ—मैंने सपना देखा कि मैं बन वन मे हूँ।
६ कि किन कि कि क्योंकि
७ जु जौ तु जि (जो जु) काम करना त रोणा केकू छो—
यदि तू काम करता तो रोना ही किस बात का ?
८ सु हिन्दी सा
९ नितर, निथ नहीं तो
१० पर हिन्दी पर
११ कन उदाहरण इनम कि के अथ म।
१२ अनी अनी इन् सोमणा छा। सस्कृत अनु की तरह प्रयुक्त होता। इसी तरह फुड़ु < म० आ० भा० पुन < स्पुन्म वाक्य के प्रारम्भ म आता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से य स्पष्ट ही हैं। पर अथवा पौर सस्कृत अपर से व्युत्पन्न है। कि की व्युत्पत्ति डॉ० सक्सेना किम से निर्धारित करते हैं।[1] टेसिटोरी ने इसकी व्युत्पत्ति या मानी है कि < अप० कई < स० यानि।[2] गढ़वाली म कि का प्रयोग अथवा क अथ में भी होता है—तू जाला कि मैं जौलू—तू जाएगा या मैं जाऊगा। हिन्दी की बोलियों म प्राय इसी अथ में क का प्रयोग होता है। क्योंकि क अथ मे किलकि का प्रयोग होता है।

की की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। बहुत सम्भव है कि यह यादि का अवशेष हो। पर स्पष्टत सस्कृत पर है। उसी प्रकार त का व्युत्पत्ति सस्कृत तत से सम्भव है। टिहरी नगर के आसपास त के स्थान पर ज का प्रयोग भी होता है जसे करी नी जाणी ज कपाली हात।

नितर सस्कृत नतु स विकसित हुआ है। अवधी म नतरु का प्रयोग मिलता है। तत और नहि के योग से नतरु की व्युत्पत्ति सम्भव है। गुजराती मे नहितर प्रयुक्त होता है जो गढ़वाली नितर के नजदीक है।

यदि के अथ म जु (या जो) का प्रयोग सस्कृत यत तथा अपभ्रंश जउ म सम्बन्धित है जु तू नी करदा त मैं करलू—यदि तू नही करता तो मैं करूंगा। इसी प्रकार कारण वाचक समुच्चय बोधकों म यांन (इस कारण), वांन (उस कारण) जान (जिस कारण) प्रयुक्त होते हैं।

चा अथवा जा चाहे के अथ में प्रयुक्त होते हैं चा रँद छ चा जांद छ चा जान छ अथवा जा रन्द छ जा जांद छ—चाहे रहो चाहे जाओ।

---

१ डॉ० बाबूराम सक्सेना इवोल्यूशन ऑव अवधी, पृ० ३११
२ पुरानी राजस्थानी, पृ० १३५

किसी अपरोक्ष व्यक्ति की वाणी को उद्धृत करने में बल का प्रयोग किया जाता है—त्वन बोल बल कि मन तेरा रुप्या दणन—(मुझे किसी ने कहा है कि) तूने कहा है कि मुझे तेरा कर्ज देना है। इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में ... से हुई है जो प्राकृत में बने और बले रूप में मिलता है। उसी प्रकार एक अन्य समुच्चय बोधक अना भी है—अनां इनु बोल दियान। अपभ्रंश में यह अनु रूप में मिलता है। कुछ क्षेत्रों में बोलचाल में बात पर बल देने लिए जाण अथवा जाणी का प्रयोग भी होता है—मैं वख ग छौ जाणी। कुजाणे क्या बात छ। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार संभव है—जानाति > जाणद > जाणी को जानाति > कुजाणी।

विस्मयादि बोधक

अन्तर भाव वाचक अव्ययों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

१ आह्वान तथा सम्बोधन

हे, हेला, हला, हेली, अला, अली अजी (< आय अहो जीव) अरे, रे, व आदि। इनमें ला, ले, रे का प्रयोग निम्न श्रेणी के लोगों के लिए होता है। कभी इनका व्यवहार समवयस्क मित्रों में भी सम्भव है। इसी प्रकार पशुओं की पुकार के लिए अलग-अलग सम्बोधन हैं जैसे कुत्ते के लिए ध्रो, थ्रो, बिल्ली के लिए ले सिह ले, भेड़ के लिए भाया ले, हा ले, बकरी के लिए ऐंई ले, भैंस के लिए बाऊ ले। हृदय के विभिन्न भावों को व्यक्त करने वाले अव्यय गढ़वाली में भी हिन्दी के ही अनुकूल हैं।

हला संबोधन संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में भी मिलता है। हिन्दी की पूर्वी बोलियों और ब्रज में भी यह प्रयुक्त होता है। भोजपुरी और अवधी क्षेत्र में यह हल्य और हले रूप में प्रचलित है। कोषकारों ने इसे प्राकृत भाषा का शब्द माना है।

२ स्वीकृति और निषेध

हौं < भो आँ, हूँ हूँ, ... छ आदि

न हो ना न, मा जम्मा ना कन ना नाथि।

३ करुणा व्यंजक

हे रां < हे राम दव, हाइ, त-त त्व त्व, च च

४ कष्ट व्यंजक

हा, हे बई उह हा, आह हूं

५ घृणा व्यंजक

दुर, छि थुप् थुक् हत्

६ व्यंग्य तथा दया व्यंजक

चुचा, सठथाला, विचारो, भग्यान लोळा

७ उल्लास व्यंजक

स्याबाश हो आहा, वा ।

अनुकारक सूचक अव्यय

गढ़वाली अनुकार-सूचक ध्वनियों से बहुत सम्पन्न है। इन ध्वनियों के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा जा चुका है। यहाँ कुछ और शब्द दिए जाते हैं

स्यों स्यों (नदी का कलकल) छलछल (छलछलाना) ढ्वौं ढ्वौं (धूं धू), ध्वौं ध्वौं (धू धं) टपटप (आंसुओं का गिरना) रुणांक (दूर से कान में पड़ती ध्वनि) लमसट्ट (पीठ पर लम्बा कर देना) सतसत (छानने की क्रिया) छर (पानी का जोर से निकलना) गुरगुर (धीरे धीरे) सुरसुर (चुपके से खिसकना) सरासर (तेजी से चलना) हिर्रिर (जल का शान्तिपूर्वक बहना) ।

प्रत्यय और उपसर्ग

गढवाली के प्रत्यय और उपसर्ग मुख्यत संस्कृत से उद्भूत हैं। उनकी तुलना मे देशज और विदेशी प्रत्ययो और उपसर्गों की संख्या अधिक नही है। यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

आ, अटू अदी, अणो, अण्या आई आदि अनेक प्रत्ययो के उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं। आई हिन्दी म भी प्रयुक्त होता है लिखाई पढाई गाडाई। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत ताति या आपिका से निर्धारित की जाती है।

हिन्दी म प्रयुक्त प्रत्ययो के अनुरूप कुछ प्रत्यय

अत लिखत पढत आवत। पढत—पढत नी पढनी। क्रिया से संज्ञा बनाने के लिए इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार संभव है अन्त > अत। वर्तमान रूप म भी यह प्रत्यय मिलता है जैसे फुरत सकत आदि।

आउ टिकाऊ दिखाऊ। इसकी व्युत्पत्ति आप+उक से बने क्रिया मूलक विशेषण से मानी गई है।

आई हिन्दी म भी इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। गढवाली म कमाई मलाई (मली—) चलाइ, (गाँठ—) खालाई जैसे अनेक प्रयोग मिलते हैं। व्युत्पत्ति आपिका > आविका > आविअ > आविआद > आई।

आक इससे अनेक शब्द बनते हैं जैसे, टणाक, लडाक, बोलाक, घडाक, हराक, छराक, नणाक। इसकी उत्पत्ति हानले आपक से और डा० चाटुर्ज्या प्राकृत अक्क या आक्क से मानते हैं। इसी प्रसंग म वाक भी उल्लेखनीय है बठवाक खवाक।

आर यह प्रत्यय संस्कृत कार से उद्भूत है। गढवाली म गितार, जितार आदि शब्दों म मिलता है। कार > आर।

आट ध्वनि सूचक प्रत्यय है जैसे—अडाट किडाट कवलाट, चवलाट खवडाट, घमणाट। इसका सम्बन्ध हौनले ने संस्कृत वर्ति वात से जोडा है किन्तु बीम्स इसे आतु या अतु से सम्बन्धित बताते हैं।

आल, आलु ये प्रत्यय संस्कृत के आल (जैसे रसाल) और आलु (जैसे श्रद्धालु) प्रत्ययो के अनुरूप है। मयाळू, दयाळू, (स्नेहालु) छुयाळ, रुआळ दुधाळ, घुयाळ

आदि में कहीं आस और कहीं आलु विद्यमान है।

आणी, इ, ईणा आदि स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का परिचय पीछे दिया जा चुका है। उसी प्रकार औरु का आदि भी हैं।

बहुवचन के प्रत्ययों का भी उल्लेख हो चुका है। उनमें आत प्रत्यय भी समूह का द्योतन करता है जैसे—जयात (बरात) नयात (बिरादरी) बिरवात (बीज का समूह)।

आन इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया से संज्ञा बनाने के लिए होता है जैसे पक+आन=पुरान मिल+आन=मिलान। व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है आपनक>आयणव>आणध>आण>आन।

आडी, आड, आडो विशुद्ध देशज प्रत्यय रहे हैं। आड से क्रिया मूलक विशेषण के रूप सिद्ध होते हैं जैसे हँसाड रिवाड नचाड आदि। आडो और आणी से क्रिया मूलक विशेषण तो नहीं बनते पर ये सम्बन्ध सूचक होते हैं जवाडी (जौ का आटा) गेंवाडी (गेहूँ का आटा) गेंवाडो (गेहूँ का खेत) कोदाडी (कोदे का आटा) कोदाडो (कोद का खेत)।

याल, वाल ये स्थानवाची प्रत्यय हैं। गढ़वाल की अनेक जातियों के नाम इसी प्रत्यय से स्थान का नाम जोड़ कर बने हैं जैसे थपल्याल सोरयाल, मलग्वाल आदि। यालो, वालो प्रत्यय इससे भिन्न हैं। भाववाचक संज्ञाएं बनाने के लिए एक और प्रत्यय मूल भी मिलता है जैसे छोरमूल मन्यूल आदि।

ओई हिन्दी में यह प्रत्यय बहिनोई आदि शब्दों में मिलता है जिसकी व्युत्पत्ति पति+क से निर्धारित की गई है। यह प्रत्यय स्वामित्व को व्यक्त करता है जैसे घसोई—घास का मालिक घास वाला मनोई—नम मन करने वाला।

बहु प्रयुक्त प्रत्यय इलो, उलो, लो

इलो, उलो, लो संस्कृत में इल और प्राकृत में इल्ल, उल्ल प्रत्यय मिलते हैं। अगिलो, पाछिलो, ब्याहिलो, सासिलो, छइल, करछुलो, मुरुल्लो हसिलो। स्त्रीलिंग में इली या उली आता है जैसे थ्योली, लमबुली, बिंदुली नथुली, बांसुली। इसके अतिरिक्त उली के समान उडी प्रत्यय भी स्त्रीलिंग का बोधक है। इससे आकार की लघुता भी ध्वनित होती है माइडी (माइलूडी भी) रातुडी, खुटूडी, दांतुडी, खाबुडी, पातुडी, जुकुडी, फूलूडी आदि। टुडी भी इसी से मिलता-जुलता प्रत्यय है। इसका प्रयोग गढ़वाल के रवांई क्षेत्र में व्यापक है कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं खमटुडी, डयांटुडी, गठूडी। इसी प्रसंग में ल का उल्लेख भी यहीं किया जा सकता है। यह संस्कृत का क्रिया विशेषणीय प्रत्यय है। गढ़वाली में यह लो रूप में मिलता है—एकलो, दुकलो, पटलो, खटलो, सटलो, पोथलो

(कुजल), दुदलो (दुग्धल), किरमोलो (कृमिल) रौंतेला (राजभुवन)।

इया यह संस्कृत का इय प्रत्यय है गढ़वाली [redacted] इसके योग से इस प्रकार के रूप साध्य होते हैं एकांतिया, इस्कूल्या, मुरल्या, हल्या, दगड्या, हजार्‌या।

उ संस्कृत में यह उक रूप में मिलता है। प्राय यह विशेषण का भाव व्यक्त करता है उजाड़, गौंगे बिगाड़, मोरा, स्वांरू (सोमवार के दिन पैदा हुआ व्यक्ति)। उक > उआ > उ।

एर हिन्दी में भी (एरा लुटेरा चितेरा) है। गढ़वाली में डोलेर, बसेर, गलेर, भलेर आदि शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। यह एड रूप में भी व्यवहृत होता है, जैसे खुदेड़, भजेड़, रोदेड़। इसी से मिलता जुलता एक और प्रत्यय एडू भी प्रयोग में आता है, जैसे घरेडू मितरेडू बणडू मवेडू।

ऐत विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति वत मत या आपत्त से निर्धारित की है। हिन्दी में यह आयत रूप में आता है। गढ़वाली में इसके योग से कुछ शब्द इस प्रकार बनते हैं थकैत पचैत, बकड़ैत, लजैत बसैत।

ऐस हिन्दी आस के वर्ग का यह प्रत्यय डा० उदयनारायण तिवारी के मत में संस्कृत आप+यस तथा हार्नले के अनुसार संस्कृत वाञ्छा से सम्बन्धित है। ईयस (गरीयस, कनीयस) रूपों से भी इसके उद्भव की कल्पना की गई है। गढ़वाली में इस प्रत्यय के योग से भाव-वाचक संज्ञाएं बनती हैं जैसे मिठैस बडैस, मोटैस, उज्यैस पैस।

ऐल सवैल, खुदैल, डडैल, रसैल आदि शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है।

ओडी, ओण्डो सिरोण्डो सिरोण्डी, बणोंडी आदि पुराने शब्दों के अतिरिक्त अब इस प्रत्यय का प्रयोग विरल हो गया है।

ओट यह प्रत्यय हिन्दी में वट के अनुरूप है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत वत्त से सम्भव है। दिसलोट, अष्यालाट जैसे शब्दों में ल का आगम भी हुआ मिलता है।

क, आक, को आदि क-वर्गीय प्रत्यय बहुत महत्वपूर्ण हैं। पीछे क्रियाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए क पर विचार किया जा चुका है। इस प्रत्यय से निर्मित शब्द प्राय ध्वन्यात्मक होते हैं जैसे—तड़क, ठसक, सुरक झमक, भटक। आक के योग से भी ये वे ही भाव व्यक्त करते हैं—तड़ाक, ठसाक सराक, झमाक भटाक। ये सब संज्ञा रूप हैं। को (स्त्री० की) संस्कृत का स्वार्थे तथा विशेषणीय क प्रतीत होता है। काष्ठक > काठको, काठगो (क > ग), पनक > पाणगो। इसी तरह बाडगो पौंदगो गैडको।

दारो यह प्रत्यय संस्कृत की ध धातु के धार धातु रूप से विकसित हुआ धौलदारो, जणदारो, खादारो, फुकदारो। हिन्दी की बोलियों में यह हार रूप में आया है। दार इससे भिन्न प्रत्यय है जो उर्दू में आया प्रतीत होता है धारीदार,

मिजाजदार।

वाण, माण भाण वान् या मान् से उद्भूत प्रतीत होते हैं। तहत्माण, फुकयाण समाण भग्यान बुढ़ान, डारवान आदि अनेक शब्दों में इनका योग मिलता है। उसी प्रकार वतो वतो प्रत्यय भी रोज में प्रयोग में आते रहते हैं। इनकी व्युत्पत्ति वत् या मत् से सम्भाव्य है।

यात के योग से भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं जैसे—सत्यात येड्यात थोयात, लयातें गोड़ात, रगड़यात। इनकी व्युत्पत्ति सदस्य है। सम्भवतः वार्ता से इसका कोई सम्बन्ध हो।

गढ़वाली का विशिष्ट प्रत्यय ट, ड, ड़ ध्वनियुक्त प्रत्यय

गढ़वाली या रवाल्टी उपबोली में ट ड और ड़ ध्वनि युक्त प्रत्ययों का आधिक्य है। राजस्थानी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जाता है। इस ड़ प्रियता को अपभ्रंश की देन माना जाता है। यही नहीं इसका मूल आस्ट्रिक भाषाओं के से माना गया है।[1] इसमें इस प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की कल्पना की गई है[2] त > ट, ड > ड़। पर अनुमान यह भी है कि ड़ ध्वनि में परिवर्तित होने वाला यह त कमवाच्य कृदन्तीय प्रत्यय से ही है। त से ड़ में विकसित होने की सम्भावनाएं हैं किन्तु यह त उक्त प्रत्यय ही रहा हो यह वस्तुतः नहीं कहा जा सकता।

इस वर्ग के कुछ प्रत्ययों का उल्लेख पीछे हो चुका है। कुछ इस प्रकार हैं डो और डी प्रत्यय हिन्दी में भी प्रयुक्त होते हैं। गढ़वाल में इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—मुलड़ो (स्त्री० मुलड़ी) मरड़ो हियड़ो गोड़ो, नातड़ो, छांतड़ो। ये प्रत्यय पुल्लिंग (डो) में आकार की गुरुता और स्त्री लिंग (डी) में लघुता का द्योतन करते हैं। कभी घृणा का व्यक्त करने के लिए भी इनका प्रयोग होता है—डामड़ा भटड़ा।

टा टी आदि प्रत्यय भी डो डी की ही परम्परा में आते हैं। टी आकार की लघुता और टी स्त्री का प्रत्यय है किन्तु टा उसका विरोधी है समोटो कोल्टो छोट सर्वाल्ठो, घणूटी रवांगी। इसी प्रकार एट् सम्बन्ध सूचक प्रत्यय है जैसे—भौजेटू (भाभी से उत्पन्न पुत्र) ससेटू (सास से उत्पन्न पुत्र)। उसी प्रकार बगेटू (भैंसा—भैंस से उत्पन्न) समरेटू कालेटू आदि शब्द भी उसी अपत्य सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। सम्बन्ध सूचक प्रत्यय के रूप में याल वाली तथा इनके पुल्लिंग

१ डॉ० चटर्ज्या राजस्थानी भाषा, पृ० ३३
२ डॉ० चाटुर्ज्या भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ५८
३ डॉ० उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १९७

रूपों वालो, वालो का प्रयोग विशेष होता है।

रू साम्य और रूप का द्योतक यह प्रत्यय अपने मूल म 'रूप' रहा होगा—रूप > रअ > रू गोरू < गो-रूप, छोरू, बाछरू < वत्स रूप, गबरू < गभ-रूप, दन्तूर < दन्त रूप।

विदेशी प्रत्यय

गढवाली म विदेशी प्रत्यय अरबी फारसी से आए हैं और उनका प्रवेश हिन्दी के माध्यम से ही हुआ है। इनम खाना बाज दार, ई, गिरी आदि ही उल्लखनीय हैं। अंग्रेजी प्रत्यया का गढवाली में समावेश नही हो पाया।

उपसर्ग

गढवाली उपसर्गों की सख्या अधिक नहा है। कुछ य हैं—
अ, अण कु औ दुर नि स सु आदि।
यह कहन की आवश्यकता नही कि य सब उपसग संस्कृत से सम्बन्धित हैं। विदेशी उपसर्गों में उल्लखनीय है कम बे, ना, हर आदि।
इनक अतिरिक्त कई अन्य प्रत्यया उपसर्गों का उल्लख हम अन्यत्र कर चुक हैं। कुछ का विवरण यहाँ प्रस्तुत है

अ अमुख अजाण
अन्खो अकरो अमरो।
अण अणजाण अनडवान < अविद्वान अणचर्यां
अणदखा अणसुण्या।
अध अधपेट अधवाट अधरात अध कपाल्या
अधमरो, अधघल अधनाठा अधपूरो।
अव औतार, औघाट औगुण
कु कुजात कुराजो कुगी कुमनखी
कुजगा कुमन, कुघाण
कुसज, कुवाणी।
स सजाण स (न) नवाळ, सचेत
नि निमण्ण, निरण्या निखाण्या निमाणा
निजाणी, निवाण, निचव, निरसा
निवाचा, निमाणो।
सु सुन्नि सुवार सुफ्न सुवाक
सुवाट, सुराज सुजात।

दुर	दुर्बीज, दुर्दिन, दुरचाल दुरगति दुरदय।
निर्	निरवेन्ट निरबुद्धो, निरभाग, निर्मासी निरदद, निरमोद
कम	कमग्गो कमनस, कमसल, कम-जात कमभूक कमजार, कमनों।
खुश	खुशाल, खुशवक्त, खुशबो, खुशदिल।
गैर	गैर आदमी गैराबाद
ना	नालरा नास्वदू नासमज नाराबिल, नाबूक नाखुन।
बे	बेजो (बेजा), बयात बेसमज, बेमान बेलज
हर	हर एक, हर-कभी, हरदम।

अर्थ तत्त्व

गढ़वाली का शब्द सामर्थ्य

शब्द सामर्थ्य और अर्थ-गौरव की दृष्टि से गढ़वाली बड़ी समृद्ध भाषा है। उसकी विशाल शब्दावली, शब्दों की ध्वन्यात्मकता और अनेकार्थकता तथा मुहावरों-लोकोक्तियों और आलंकारिक प्रयोगों में निहित शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति इस बात का प्रमाण है। प्रकृति और जीवों में निरंतर संघर्ष करने वाले पर्वत-पुत्रों के कठोर जन जीवन की दैनंदिन सरस विरस अनुभूतियों से अनुप्राणित होने के कारण गढ़वाली लौकिक अभिव्यक्ति में बहुत समर्थ सरस और सजीव है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें ज्ञान विज्ञान धर्म और दर्शन की विशिष्ट शब्दावली का नितांत अभाव है किंतु जहाँ तक ग्रामीण लोक जीवन की कोमल-करुण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है गढ़वाली संस्कृत से उधार ली हुई तत्सम शब्दावली पर पनपने वाली अनेक आधुनिक आर्यविभाषाओं से अधिक सप्राण और सम्पन्न है।

ध्वनि और अर्थ

जीवन की श्रमशील परिस्थितियों में जन्म लेने वाली लोक भाषा के निर्माण में ध्वनि का विशेष हाथ होता है। गढ़वाली ऐसी ही लोक भाषा है जिसके उद्भव और प्रारम्भिक विकास में शब्दों के लिए ध्वनि की प्रतीकात्मकता एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। अन्य भाषाओं तथा हिन्दी[1] के अर्थ-तत्त्व का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने ध्वनियों के सन्दर्भ में उनमें निहित अर्थ पर विचार किया है। मध्य पहाड़ी की गढ़वाली विभाषा में भी यह ध्वन्यात्मकता मिलती है। यहाँ हम कुछ गढ़वाली ध्वनियों से सम्बद्ध अर्थों को प्रस्तुत कर रहे हैं

१ ख ध्वनि खोखलापन व्यक्त करती है

खाळ तालाब या पोखर जहाँ वर्षा का पानी रुक जाता है।

---

१ डॉ० हरदेव बाहरी हिन्दी सेमान्टिक्स, पृ० ६-११

साथ मुह विशेषत खुला हुआ मुह
खाद गड्डा खोळ अवरा गात
खोस गात, खक्ळ स्पष्ट
२ घ ध्वनि पतन व्यक्त करती है जस
घसणू लाचना पोतना घिच्चा मुह
घट्ट घराट पनचक्की
घेत खप एक वारी म स आया गया बाभ
घुसेणू सिमट कर साथ बठना
घटणू ठाकना गाड़ना।
३ छ ध्वनि म गति ताल-लय स्वकर चलना आदि अथ व्यक्त होता है
छकछक विशेष ताल-लय या गति स चलना
छुळछुळ स्य स्वकर पानी का गिरना
४ झ आकस्मिकता और काय की शीघ्रता का व्यक्त करने वाली ध्वनि है
झपाको झपटना (झमाको भी)
झुमलो नृत्य म साथ चलन वाले कुछ लोकगीत,
झुसमुस उपाकाल स कुछ पहल का समय जो शीघ्र बीत जाता है
(झोंझो) झाडो भूत प्रत भाड़ने की क्रिया
झरराट विपल जतु म काट की शीघ्र फलती हुई पीडा।
५ ट ध्वनि आकार की विरूपता और हिंसा को व्यक्त करती है,
टसाटस, टेस, टसाक (छेडछाड)
टकटक, टाँट चाच,
टाँर, टाँर मारणू—जान स मार देना,
टुरणो (गिरना) आदि।
६ ड ध्वनि हिंसा कठोरता स्थूलता, गति की शिथिलता और विरूपता प्रकट करती है
डुगो लुनसाय डुगर डिगल पत्थर
डाँगो बूढा बल डाँडो ओल
डवरो भेड डँडक आन्दोलन
डुडीर पुट्ठे डामणो पशुआ की कमर
डक्का ढाल इसीस ढाक्की (—वाची) शब्द बना है जो नाचने गाने वाली एक जाति विशेष क लिए प्रयुक्त होता है।
डास आघात, डाल्लू फोडा
डँडोलेणू इधर उधर घूमत फिरना।

पूर्णतः गलत न हो किन्तु सम्भव अवश्य है। इसी प्रकार अनुरणन अथवा अनुकरण के आधार पर अनुकरणमूलक शब्दों की भी सृष्टि हुई है। यहाँ हम कुछ ऐसे ही शब्द और क्रिया पद प्रस्तुत कर रहे हैं : दपौ दपौ अथवा शिरपटि दौड़ी ... पट्टो पर (जिसमें गुट गुट ध्वनि होती है), सुरगुर चुपचाप चलना, सरासर तेजी से चलना, भुब्बी चुम्बन, सटकाक लटकाना, झिलमिली ... , कलमत किसी काम के करने में उतावलापूर्वक सीझना ... , सेंगो नारी, कटरकी किसी कारण दर्द का एकाएक मन में उठना ... , सटाक्ठो खिंचना, घरघरो तागा, अरजरो धागा, बयराट तेज पानी, भरल अथवा भताग ... , ललसट्ट ऐसा पीटना कि घायल लम्बा लेट जाय, खगडट्ट अत्यधिक प्रसन्न होना आदि।

क्रियाएँ : कपसाणु ... ध्वनि में खिलाना, ससाडाणु मिर्च आदि लग जाने पर सी सी करना, गुणमुणाणु अस्पष्ट ध्वनि में नाक से बात करना, घघराणु तेजी से घरघराते हुए चलना, ढकपणु दौड़ना, कणाणु कराहना, सटगणु भागना, लमकणु गिरना, खिटगणु दाँत पीसकर बोलना, गिडकणु गरजना, तौडणु फूटकर टुकड़े होना, सटकणु अनुचित काय करके पकड़े जाने के भय से भागना, धस्कारणु दुत्कारना।

कुछ पक्षियों के नाम भी उनकी ध्वनियों के अनुकरण पर रखे गए हैं : घूघुति तुलनीय पंजाबी घुग्घी, कफू काफल पाक्कू काफल पक गए, घूघू सस्कृत घूक, टकाटोर कठफोड़वा आदि।

उपसर्ग, प्रत्यय और समास

किसी भाषा के अर्थ विकास में ध्वनि प्रतीकों के समान ही उपसर्ग और प्रत्ययों तथा समास का विशेष स्थान होता है। शब्दों की संख्या-वृद्धि और मूल अर्थ से सम्बन्धित अनेक अर्थों के विकास की दृष्टि से गढ़वाली भाषा के लिए उपसर्ग और प्रत्ययों की देन महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए यहाँ विभिन्न प्रत्ययों के योग से मूल शब्द में हुए अर्थ विकास के सकेत दर्शनीय हैं :

जा : जादू जाने वाला, जाँदो (परचेत)—बिल्कुल गया-गुजरा व्यक्ति, जाप्या जाने वाला अस्थिर, जवाई जाने की क्रिया, जाऊ जाने वाला जो टिकाऊ न हो, जाणी (औणी जाणी) जाने की क्रिया, चलो साथ ... जोट जाड़ी साथ जाने वाले, जादारो जाने वाला आदि।

अग्र : आग आगे, आग्गे कुछ समय पहले, अगन आगे सबसे पहले या समय से पहले, अगेता समय से पहले, आगलो हिन्दी अगला दूसरा—आगलो आदमी क्या बोलना ?—दूसरा आदमी क्या कहेगा ? अगलियार देवता की पूजा या चक्की की पिसाई के लिए पहले से लिया गया अन्न, अगेरे या अगेरो (अगरी-

बठाक दखी—आगे बठकर देखना अर्थ—) ध्यान पूर्वक अगाडो मकान का अगला हिस्सा।

मुड मुडारो सिर का दर्द मुडगो लकडी का कुन्दा **मुडयासो** पाडी **मुडेणू** मरे हुए के लिए बाल कटवाना **मूडो** मिग मुडयाळ सबसे ऊपर।

पिड पिंड पितरों को दिए जाने वाला पिंड **पिंडा** शरीर (रवाली गीता म—य पिंडा को जर उपेल) **पींडो** पशुओं का दिया जाने वाला आटे का गोला, **पिंडाळू** कचालू।

सिर **सिरवा** सिर दर्द **सिरोण्डो** सिरहनी **सिराणो** सिरहाना **सीरो** श्रेष्ठ **सिरी** भेड-बकरी का सिर **सिरोकणू** सौंपना।

प्रत्ययों की भांति गढवाली में समास रचना का प्रयोग अधिक नहीं मिलता किन्तु उसमें समास का सर्वथा अभाव नहीं है। गढ़वाली में ऐसे समासों का प्राधान्य है जिनमें दो सामासिक शब्द अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मिटाकर एकरूप हुए मिलते हैं जैसे मात+पुत्र>**माबत** सामान्य अर्थ माता और पुत्र किन्तु पिता और पुत्र के लिए भी इसका प्रयोग होता है। भात+वधू>**बौऊ** भ्रात+जाया>**भौज** हाथ+पानी>**हत्वाणी** आटा गूंदने के लिए हाथ में लिया पानी वात+पानी>**बत्वाणी** वर्षा+काल>**बसगाळ**, नव+रात्र>**नौरता** आदि।

गढवाली में ऐसे समासों का भी अभाव नहीं है जिनमें समास-सम्बद्ध शब्द लुप्त नहीं होते और सुरक्षित रहकर भी जो एक भिन्न अर्थ की सृष्टि करते मिलते हैं

सतनाजो सात अनाज घर घर में मांगा हुआ अनाज, जो देवता को चढाया जाता है और जिसको चढ़ाने के पश्चात् दोषी परिवार का अनिष्ट हो जाता है।

द्विपाया दो पांवों वाला मनुष्य।

चौखुट्या चार पगों वाला पशु।

गांठ खोलाई गांठ को खोलने की क्रिया, साहूकार से ऋण लेते हुए अहसान के तौर पर दिया हुआ (ब्याज से भिन्न) धन।

रात ब्याणी रात का प्रसूता होना उषा काल।

पेट बांठी वह स्त्री जो पेट का (मन, से ही) चतुर है, वह जो चतुरता प्रकट नहीं करती।

मुख मुलाज्या मुंह+मुलाहजा विशिष्ट अर्थ—वह व्यक्ति जो किसी के मुंह-सामने उसकी बात मान लेता है।

सौंजड्या जिनकी जड़ सम है—मित्र साथी।

पुनरावृत्ति

शब्दों की पुनरावृत्ति भी अर्थ विस्तार में सहायक होती है। पुनरावृत्ति कभी

निरर्थक नहीं होता। इनसे भावाधिक्य और वैशिष्ट्य का द्योतन करने में निर गढ़वाली प्रकार रचना में पुनरावृत्ति पर विचार कर लिया जाता है। गढ़वाली लोक गीतों में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यहाँ हम कुछ सामान्य उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं

बुड्या बुड्या मरी गन बूढ़ बूढ़ मर गए—जो बूढ़े थे वे मर गए (और नये)। फुलीगे कवीर—फूल फूल चुनि लिए।

इना इना रंग छा कना एसे ऐसे (पहली दूसरी तरह के नहीं, केवल ऐसे ही) कनिक कना ह ?

घुड़ घुड़ कर पापड़ी फुटणी वाकन घुमराण रंग छा आणी घुम्नों घुम्नों कर पापड़ी फट गया और न जाना है कि स्वाद चावल की गंध कहाँ से आ रही है ?

घुड़ाउ म हजो गया पर वह कुल्टा ग्वाल छो। कुन्जा ना सोये-सोये (गाना भी) पर नह कूयण गान म।

दिना की दुकान पर मिर्च पको म जीना की दुकान पर मैं मैं हो रहा है।

सौण् रों सौण् जा रहा हूँ गा रहा हूँ।

सह प्रयुक्त शब्द

इसी प्रकार सह प्रयुक्त शब्द भी अर्थ का स्पष्ट करते मिलते हैं। इनमें प्रयुक्त निरर्थक शब्द भी भाव की दृष्टि से सार्थक और पूरक होता है। उदाहरण के लिए, की की मन की स्थिरता जो मिचपाता रोठा घोठा नार-अराना, राम-कसो समस्तार कनियाना, पुठण् गठण् पूछ-ताछ करना आदि सह प्रयुक्त शब्दों में अर्थ का जो सौष्ठव निहित है, वह शब्द युग्म में ही साध्य है। यही बात पाणी वाणी कागज पात्र जुर्र पुई में प्रयुक्त वाणी वागज, कुई आदि शब्दों के बारे में भी कही जा सकती है जो यहाँ पर निरर्थक होते हुए भी सर्वथा निरर्थक नहीं हैं, जैसे पाणी वाणी=पानी या पानी जैसा कोई और चीज जो पानी का काम दे सके। इस प्रकार उनमें अप्रत्यक्ष रूप में आदि का भाव भी निहित होता है।

पूर्वसर्ग और परसर्ग

किसी वाक्य में शब्द का अर्थ कभी कुछ शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है जो पूर्व सर्गों अथवा परसर्गों के माध्यम से प्रकट होता है। कारकों के प्रसंग में परसर्गों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। गढ़वाली में कभी दोनों परसर्गों का प्रयोग एक साथ मिलता है। इस प्रकार के प्रयोग निश्चित रूप से अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ये संयुक्त परसर्ग इस दृष्टि से विचारणीय है

चूल्हा मा को खाणो खाये   चूल्हे पर का खाना खाया।
घड़ा उन्द को पाणी पेय   घड़े में का पानी पिया।
डाळा पर-न पछी उडे   वृक्ष पर से पक्षी उड़ा।
ये वाक्य अनुवाद में विचित्र तो मालूम होते हैं किन्तु ये संयुक्त परसर्ग अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः ऊपर के वाक्यों में किसी विशिष्ट अर्थ पर बल है जैसे वही खाना खाया जो चूल्हे के ऊपर था वही पानी पिया जो घड़े में था। इसी प्रकार वृक्ष से पक्षी उड़ा भी अपने में सार्थक वाक्य है किन्तु उसमें प्रत्यक्ष रूप से वृक्ष पर बैठने का भाव मुखर नहीं है। इसलिए वृक्ष पर से पक्षी उड़ा वाक्य दो तथ्यों को प्रस्तुत कर निश्चयन अर्थ का विस्तार करता है—(१) पक्षी वृक्ष पर था (२) वह वृक्ष से उड़ा। कहा जा सकता है कि से परसर्ग से भी यह भाव अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त हो सकता है किन्तु से में बैठने का भाव की अपेक्षा बिलग होने का भाव मुख्य है।

इसी प्रकार ही भी तो आदि पूर्व सर्गों के प्रयोग और वाक्य में उनकी स्थिति पर भी अर्थ भेद निर्भर करता है, जैसे—

मैं जांद छौं मैं जाता हूँ।
मैं त जांद छौं मैं तो जाता हूँ (चाहे और कोई जाय न जाय)।
मैं जांद त छौं मैं जाता तो हूँ (किन्तु आऊंगा ही इसके अतिरिक्त कुछ और भी करूंगा। विलम्ब होगा और जाना ना)।
मैं जांद छौं त (यदि) मैं जाता हूँ तो (न जाने क्या हो जाय)।
त मैं जांद छौं तो मैं जाता हूँ (अच्छा मैं चला)।
मैं ही जांद छौं मैं ही जाता हूँ (और कोई नहीं)।
मैं जांद ही छौं मैं जाता ही हूँ (और कुछ नहीं कर रहा हूँ)।
मैं जांद छौं पर   मैं जाता हूँ पर   (अनिच्छापूर्वक)।

मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा अन्य प्रयोग

भाषा का प्रारम्भिक रूप सरल और एक सुनिश्चित अर्थ से सम्बद्ध शब्दों से निर्मित होता है किन्तु धीरे धीरे जब भाषा व्यवहार और विकास में आने लगती है तो उसकी व्यंजना शक्ति बढ़ती जाती है। मुहावरे भाषा की उसी शक्ति के द्योतक होते हैं जिनके सहारे शब्द नए अर्थों में ग्रहण करने जाते हैं।

गढ़वाली में मुहावरे के सम्बन्ध में एक मुहावरा है— मावारो ओणू मुहावरा आना' अर्थात अभ्यास होना व्यवहार में आना। मुहावरे की यही सही व्याख्या हो सकती है। नित्य प्रति के जीवन में जन-साधारण अधिकांश शब्दों का प्रयोग अभ्यास व्यवहार पूर्वज्ञान अनुकरण और सादृश्य के आधार पर ही करता है। जनसाधारण न शब्दों के मूल की बात सोचता है न

तथ्य का सहारा लेता है और न व्याकरण के नियमों की ही चिन्ता करता है। यह अभिव्यक्ति चाहता है। मुहावरों की उत्पत्ति का इतिहास ही यथातथ्य अभिव्यक्ति की इस उत्कट अभिलाषा और भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के उपार्जन का इतिहास है जिसके हर चरण में शब्द बनते हैं परस्पर सगठित होते हैं और फिर जब ये ही अनायास प्रयोग रूप हो जाते हैं तो अपना अभिप्रेत अर्थ देने लगते हैं और फिर मुहावरे बनकर सहज स्वाभाविक रूप में व्यवहार में आने लगते हैं।

मुहावरे जन साधारण की देन हैं। इनमें उसकी भावाभिव्यक्ति की रसवत्ता अनगढ़ता और तर्क का अभाव मिलता है किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये शब्दों के अनगढ़ अनगिनत पारस्परिक सगठन में से भी अर्थ-बोध की क्षमता उपार्जित कर लेते हैं। इसीलिए सज्ञाओं और क्रियापदों के विचित्र सयोग से बने इन मुहावरों में शाब्दिक अर्थ का तार्किक विकास कम मनोरंजक नहीं प्रतीत होता

१ नाक लगणो नाक लगना बुरा मानना।
नाक औण् नाक आना नाक में श्लेष्मा बहना।
नाक मा औण् नाक में आना परेशान होना।
नाक कुटौण् नाक कुटवाना पिटना।
नाक कटौण् नाक कटाना कोई लज्जाजनक कार्य करना।
नाककारी होणो नाक-भारी होना चतुर होना।
नाक मा रस देण् नाक में रस देना गुस्से में पेंचना।
२ आंखा औणा आँखें आना, आँख दुखना।
आंखा होणा आँखें होना, पढ़ा लिखा होना।
(हात) आंखा लगणा (हाथ)-आँखें लगना स्वावलम्बी होना।
आंखा करकौणा दिखौणा आँखें दिखाना, धमकी देना।
आंखा देखणा आँखें देखना आँखों से देखना (काम लेना)।
आंखा ताणणा आँखें तानना क्रोध करना।
आंख लोपणा आंख बन्द करना सोना, झपकी लेना।
आंखी चलौणी आँखें चलाना सकेत करना।
आंखा बतौण् आँखें बताना क्रोध करना।
३ नौं करण् नाम करना नाम पैदा करना।
नौं लेण् नाम लेना याद करना।
नौं पड़ण् नाम पड़ना लाञ्छन लगना।
नौं धरण् नाम धरना किसी को बदनाम करना।
नौं लगण् नाम लगना, पापी ठहराया जाना।

नौं सरण् नाम सरना (बढ़ना) कीर्ति का प्रसार।

नौं जाणो नाम जाना, आदर प्रदान के लिए नाम न लेना।

नौं पर रहणो नाम पर रहना, पति की मृत्यु के पश्चात दूसरा ब्याह न करना, वैधव्य को स्वीकार करना।

नौं लिजाण् नाम ले जाना, चर्चा करना कृतज्ञता प्रकट करना।

अपणा नौं कू होणो अपने नाम का होना, अपने को योग्य सिद्ध करना।

नौं चलौण् नाम चलाना, प्रचार करना।

नौं लिखौण् नाम लिखवाना, भर्ती होना।

नौं रण् नाम रहना, यश जीवित रहना।

नौं क रोण् नाम के लिए रोना, यश की कामना करना।

नौं पर थुक पडण् नाम पर थूकना तिरस्कार करना।

नौं चौण् नाम जाना किसी सदन में किसी की चर्चा करना।

मानव ने जीवन और जगत का सादृश्य और वैभिन्न्य के आधार पर समझने बूझने का प्रयत्न किया है। उसने पदार्थों, जीवों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, विचारों और व्यवहारों में सादृश्य देखा है और इस प्रकार एक की विशेषता का आरोप दूसरे पर किया है। परिचित के द्वारा अप्रस्तुत या अपरिचित की व्याख्या लाक्षणिक व्युत्पत्ति की विशेषता है। मुहावरों के सृजन में यही प्रवृत्ति कार्य करती है। उदाहरण के लिए ये गढ़वाली मुहावरे लीजिए—सासू की ब्वारी होणू सास की बहू होना, गौ होण् गौ होना, जिठाणी की नस्या होण् जेठानी का भसिया (भय पालना वाला सेवक) होना। ये मुहावरे सास के अधिकार में रहने वाली बहू, भारी गाय और भाभी पर आसक्त पति को देखते हुए रच गए होंगे और बाद में विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगे होंगे। मुहावरों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उनका अर्थ अभिधेय अर्थ की अपेक्षा विलक्षण होता है। इस विलक्षण और भिन्न अर्थ का बोध लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों से साध्य होता है। गढ़वाली मुहावरों में इसके सुन्दर और आधुनिकतम उदाहरण मिलते हैं—माया की मशीन होण् प्रेम की मशीन होना, छुयों की रामण होणू बातों की रामायण (अर्थात बातूनी) होना, घुट्टी पणी घुट्टी पीना, शराब पीना रामण लगौणी रामायण लगाना, आप बीती सुनाना जड़ला लगणा जड़ें लगना अचर स्थिर होना, दण् होण् दाहिना होना अनुकूल होना लकड़ी देणी लकड़ी देना मृत व्यक्ति को जलाने के लिए लकड़ी ले जाना दौनू मा रखण् दोनों के ऊपर रखना परशान करना, बुरा भला कहना कोरट होना वाद होना कुर होना छीना जाना पूछ पकड़ण् पूछ पकड़ना सहारा लेना अनुसरण करना, आदि।

वास्तव में मुहावरों और शब्दार्थ विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु यह

ध्यान देने योग्य है कि सांकेतिक अर्थ बहुत कुछ किसी प्रदेश विशेष की तात्कालिक भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। गढ़वाली मुहावरों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने युग, समाज और संस्कृति की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। ब्याह करणू (ब्याह करना), पिठाइ लगणो हल्दी या तिलक लगाना आदि ऐसे ही मुहावरे हैं। चन्द्र लगणो अन्धेरा होना तथा चन्द्र सूर्जों देखणो चन्द्र और सूर्य का स्थिति दर्शाना फलित ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। लकड़ी देना मुहावरा भी उस सामाजिक और सामूहिक जीवन व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें किसी व्यक्ति के मर जाने पर गाँव के सब लोग चिता के लिए लकड़ी लेकर घाट पर जाते हैं। किन्तु युग के साथ संस्कार, धार्मिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में विचार बदलते हैं, इनके साथ उनमें निहित अर्थ भी परिवर्तित हुए बिना नहीं रहते। उदाहरण के लिए तिलक लगाना धार्मिक अनुष्ठान का मांगलिक पक्ष है किन्तु उसके उपलक्ष में यजमान को जो दक्षिणा देनी पड़ती है, उसकी प्रतिक्रिया एक विभिन्न अर्थ को ध्वनित करती है। हिन्दी में चूना लगाना इसी तरह का मुहावरा है। संस्कार सम्पादन करते हुए जो खटराग करना पड़ता है उसको लक्ष्य करते हुए चौदह कम करणा मुहावरा बुरी तरह थकने या मारे पीट जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। गढ़वाल में मास की प्रत्येक संक्रान्ति को औजी (तुलनीय गुजराती आवजी) बाजक घर घर के आगे ढोल बजाकर बधाई देते हैं। इसी आधार पर अपणी सगरांद बजौणी अपनी संक्रान्ति बजाना (नौबत बजाना) मुहावरा चाहे-अनचाहे अपना दायित्व पूरा करने के अर्थ में प्रचलित है।

ऐतिहासिक, भौगोलिक और जातीय तत्व भी मुहावरों में प्रयुक्त शब्दों को नया अर्थ प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए गढ़वाल पर हुए गोरखा आक्रमण और उसमें किये गए अत्याचारों के कारण गोरख्याणी करणो (गोरखानी करना) मुहावरा बर्बरता दिखाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मध्यकाल में गढ़वाल और भोट (तिब्बत) में जो संघर्ष रहा उसकी कठोरता भोट बठौणू (भोट बिठाना अशक्त कर देना) भाट्टत देखणू (भाट देखना बहुत बड़ी कठिनाई में पड़ना) आदि मुहावरों में अभिव्यंजित हुई है। इसी प्रकार लंका एक भौगोलिक नाम है किन्तु लंका जाणू लंका जाना तथा लंका होणू लंका होना प्रयाण स्थान की अपेक्षा स्थान की दूरी का व्यंजक करना है। इस प्रकार के मुहावरों में व्यक्तिवाचक या जाति वाचक संज्ञाएँ भी भाव-वाचक हो जाती हैं। जाट, खस्या (खस), बनिया, ठाकुर, बजाज आदि संज्ञाएँ जब मुहावरों में प्रयुक्त होती हैं तो वे अभिधेय अर्थ की अपेक्षा उनसे सम्बद्ध गुण दोषों की अभिव्यंजना करते मिलते हैं।

गढ़वाली मुहावरों में अर्थविस्तार, अर्थापकर्ष और अर्थोत्कर्ष के अनेक उदाहरण मिलते हैं जो भाषा की शक्ति और अर्थ की गरिमा दोनों को प्रकट करते हैं।

पवित्र अनष्ट्न, घणित आर अश्लील भाव अथवा क्रिया का बालचाल म बडी बनानी और सौष्ठव स व्यक्त करना मुहावरा की सबस बडी विशेषता होती है। -जीवन स सम्बधित गढवाली मुहावर इसके प्रमाण हैं। आतव सूचक य मुहावर इस दृष्टि से विचारणीय हैं ऋतुमा होणू ऋतु म होना, नहेणक होणू नहान का होना पाणी भर होणू पानी स बाहर (न छून योग्य) होना छों होणी अस्पृश्य होना। इसी प्रकार पशुआ के गाभन होने का भाव फलणू फलना बोयणू बाया जाना और फसल लगणी फसल लगना मुहावरा के माध्यम स व्यक्त किया जाता है। स्त्री क गभवती हान का सकत भरी भाडी होणी भरा बतन होना, होगिमा होना दो जी वा नी होना दावस्था होणू दो अवस्थाओ वाली होना, भागावद (भागावत) होणू आगावान (आगावती) होना आदि मुहावरा से दिया जाता है।

अधिकाश गढवाली मुहावरे मानव चरित्र की विविध मनास्थितियो, भावो, अनुभावो और सचारी भावो स सम्बन्ध रखत है। उनम क्रोध घणा, तिरस्कार हिसा आवेश आह्लाद उल्लास आदि मनोभावो की सजीव अभिव्यक्ति मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है जस इनकी रचना आवेग के क्षणो म हुई होगी क्योकि प्राय ऐसी स्थिति म शब्द तथा अथ अभिव्यञ्जित करन क समथ होत हैं।

यही नही गढवाली भाषा क मुहावरा म भाषा सौष्ठव और लाघव क सुन्दर उदाहरण मिलत हैं। इनम अधिक अभिव्यजना शक्ति अगर कही दिखाई देती है तो उन मुहावरा म जिनम पुनरुक्ति सह प्रयोग अथवा 'अनुरणन' क दशन होत हैं टैं टै करणा टें टें करना ऐंठ दिखाना फकोड्याव हाणो अहकार दिखाना दौंकरा धौंकरी करणी शोर शूर करना बचर बचर करणू एक बात को कई बार कहकर परेशान करना सटर बटर करणी सटर-बटर करना आदि।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि सज्ञा और क्रिया के योग स बन मुहावरा का अपक्षा सवनाम क्रिया विशेषण कृदत, अव्यय स बन मुहावर गढवाली म अथ वहन की दृष्टि स कही अधिक सशक्त हैं। कुछ उदाहरण लीजिए तुन्ता होणी तू-तू होना उब्बो धोणू ऊपर का आना क आना, इथ-उथ लाणी इधर-उधर की लगाना, झूठी-सच्ची बातें करना धाइ होणी वाड हुई होना मथु उठणू-बठणू होणू उठना बठना होना माय होना।

मुहावरा की भाँति लोकोक्तियो म भी अथ-गाम्भीर्य की सभी विशेषताएँ मिलती है। कुछ लोकोक्तियो का केवल अभिधेय अथ ही प्रमुख होता है किन्तु अधिकाश म लाक्षणिक प्रयोग के कारण अथ विस्तार क दशन होत हैं। सामान्यत लोकोक्ति कहलाने का गौरव केवल उसी उक्ति को प्राप्त ह जा लोकानुभव स उद्भूत होती है और लोकानुभव प्राय घटना मूलक होता ह इसीलिए गढवाल म लोकाक्ति को औखाणा (आख्यान) पखाणा (उपाख्यान) कहा जाता है। वस्तुत लोकोक्तियाँ सार रूप म आख्यान अथवा उपाख्यान के मूल

मे स्थित घटनाओं से उद्भूत रूपा-सूत्र की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कई लोकोक्तियाँ अपने में निहित घटना और कथा तत्त्व की याद दिलाती है, जिनमे उनके अर्थ विस्तार की सीमा अभिधेय अर्थ तक ही नहीं रहती। उदाहरण के लिए मूल घटना का आधार अर्थ प्रसार करने वाली कुछ गढ़वाली लोकोक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं

कल्दा मारीक कोणी बूतणी तोते को मारकर ही बकनी बोनी चाहिए। यहाँ तोता (खेत की खड़ी फसल खा जाने वाला पक्षी) शत्रु अथवा विघ्नकर्ता तथा कंगनी (अनाज विशेष) उपलब्धि के लिए किए उद्यम का प्रतीक है।

बिराळी मारी सबी देन्दन दूद खत्यू क्वी नी देखद बिल्ली का मरा हुआ सभी देखते हैं (उसका) गिराया हुआ दूध कोई नहीं देखता। यहाँ बिल्ली का अर्थ उस अपराधी से है जो अपने अपराध (दूध गिराना) के कारण दण्ड पाता है किन्तु दंड की अतिशयता अथवा सहानुभूति के कारण लोग विगत अपराध पर ध्यान नहीं देते बल्कि उसका अनिष्ट करने वाले व्यक्ति को ही दोषी ठहराते हैं।

इसी प्रकार अव्याकारियों और आलंकारिक प्रयोगों से भी गढ़वाली लोकोक्तियाँ विशिष्ट अर्थ का प्रकट करती हैं जैसे—

रस बगछ कुल की लाज हे वश कुल की लाज रख!

फकू चलदम रोता श्रीक पढौंदन गीता स्वयं तो रोते चलते हैं और दूसरों को गीता पढ़ाते हैं।

पडित भूली जांदन मवोरया डूबी जांदन पंडित भी भूल जाते हैं तैराक भी डूब जाते हैं।

मी छौं गौं मा भली आग गौं मा क्वी नी मिली मैं गाँव में सबसे भली हूँ किन्तु सारे गाँव में आग मांगने गई पर किसीने नहीं दी। (अगर भली हो होती तो लोग आग क्यों न देते?) यह उक्ति उस युग के संदर्भ में समझनी चाहिए जब दियासलाई का आविष्कार न हुआ था।

पगडी किल बांधी अठ मरोड छ पेंच केक नी गाड बल, गरीब छऊं 'पगडी क्या बांधी है?' (एक ने किसी से पूछा तो वह बोला) अपनी ऐंठ है। (इस पर उसने फिर पूछा) तो फिर पेंच (पगड़ी का तुर्रा) क्यों नहीं निकाला? (उत्तर मिला) गरीब हूँ। (गरीबी और ऐंठ दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं?)।

किस तोती होली कित मणा होली या तो तोती (तोता का स्त्रीलिंग एक अव्याकरणिक प्रयोग क्योंकि तोता का स्त्रीलिंग तोती नहीं होता) होगी या तो मना। किसीसे जब पूछा गया कि अमुक पक्षी कौन है तो उसने उत्तर दिया—या तो तोती होगी या मना होगी। यह उक्ति उस व्याख्या को चरितार्थ करती है जहाँ कोई व्यक्ति अपने अज्ञान को ज्ञान का भ्रम उपस्थित कर छिपाना चाहता है।

खयाले ख्वारी ? बल पोयाले ससुरा जी (ससुर ने बहू से पूछा) बहू (खाना) खा लिया ?' (तो बहू ने उत्तर दिया) हाँ, पी लिया ससुर जी !' यहाँ खा लिया और पी लिया शब्द सार्थक हैं।

लोकोक्तियों के समान ही साहित्यिक प्रयोगों में कल्पना, आलंकारिक सौन्दर्य, और शब्द चमत्कार भी अर्थ की गुरुता में सहायक होते हैं। गढ़वाली लोकगीतों में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं

धांयों ध्वतो छुबोलो, मेरी भग्याली बौ
तेरी कारना ह्वगे, मेरी भग्याली बौ,
ये सरील को क्वीला मेरी भग्याली बौ !

—हे मेरी भाग्यवती प्रेयसी तेरे कारण मेरे शरीर का कोयला हो गया है।

गुड खायो माख्योन,
और खादा गिचोन तू खादी आख्यान।

—मक्खियाँ गुड़ खाती हैं। दुनिया तो मुँह से खाती है, लेकिन तू आँखों से खाती है।

सौदा सवनी को
सौ साठ गगुवा होंदा, उजालो ज्वनी को।
धरती को फंकू
बबूल हुया भरीं सुवा मन को एकू।

—आकाश पर सकड़ों तारे होते हैं किन्तु प्रकाश चन्द्रमा का ही होता है। धरती पुष्पों से भरी पड़ी है किन्तु मन का अधिकारी कोई एक ही होता है।

अर्थ परिवर्तन

किसी भी भाषा में अर्थ परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में कई सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और भौगोलिक तत्त्व एक साथ काम करते हैं और इसी प्रक्रिया में कभी शब्द अपना रूप और अर्थ बदलते हैं। उदाहरण के लिए कभी किसी विशेष ध्वनि पर बल देने के कारण ध्वनि लुप्त हो नहीं होती बल्कि अवशिष्ट ध्वनियाँ नये अर्थ में प्रयुक्त होने लगती हैं। उदाहरण के लिए, आर्या > अज्जु > अज्जी > गढ़वाली जी—इस प्रकार आर्या शब्द से व्युत्पन्न जी शब्द का अर्थ सास हुआ किन्तु शब्द पर भिन्न बलाघात के कारण उसी शब्द से आया > अज्जा > इजा और इससे भिन्न एक और रूप जिया निष्पन्न हुआ जिसका अर्थ माँ है।

कभी शब्द के किसी अप्रधान अर्थ पर बल देने के कारण भी गढ़वाली शब्दों में रूप और अर्थ का परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी शब्द से व्युत्पन्न गुसैं शब्द को लिया जा सकता है। प्रारम्भ में इसका अर्थ गौओं का

स्वामी रहा होगा बाद में स्वामी के कर देने के कारण गुस्यूं का अर्थ केवल स्वामी रह गया। जग सान्दरों को गुस्यूं कारिया का स्वामी, पुगड़ा को गुस्यूं गाड़ का स्वामी और फिर अर्थ संकोच के कारण गुस्यूं शब्द केवल पति का पर्याय बन कर रह गया। इसी प्रकार गढ़वाल की ऐतिहासिक परिस्थितियां, अर्थ व्यवस्था और रीतियों का परिवर्तन भी शब्दों के अर्थ परिवर्तन का कारण रहा है। उदाहरणार्थ एक युग में स्तूप शब्द एक विशिष्ट अर्थ का परिचायक रहा, किन्तु बाद में जब युग की ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण स्तूप का महत्व नष्ट हो गया तो यह गढ़वाली में थुपु (ढेर) रूप में केवल ढेर का अर्थ-बोधक शब्द मात्र रह गया। इसी प्रकार यंत्र शब्द को लिया जा सकता है जो गढ़वाली में जांदरो, जांतो तथा जंतर आदि रूपों में विकसित हुआ मिलता है। एक युग में चक्की और दूसरे में तांत्रिक महत्वपूर्ण यंत्र माना गया होगा, जिसके कारण जांदरो तथा जांतो नाम दिया गया। इसी प्रकार तन्त्रमन्त्र की साधना के युग में शत्रु की यन्त्रणा से रक्षा पाने के लिए तावीज को जंतर कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। और बाद में उक्त रहस्यमय जंतर का इतना ह्रास हुआ कि जंतर शब्द का उपयोग अब आधुनिक गढ़वाली में चंचल मन के एवं गहने के लिए होता है।

भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी कई गढ़वाली शब्दों में अर्थ परिवर्तन हुए हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत नीवार बिना उगाये हुए जंगली धान्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु गढ़वाली न्यार चरागाह घास का अर्थ बोध कराता है। स्थान परिवर्तन के कारण ही यह अर्थ परिवर्तन सादृश्य के आधार पर साध्य हुआ होगा। इसी प्रकार एक स्यात गंगा के कारण गढ़वाल में गंगा शब्द सामान्यतः नदी का वाचक हो गया है जैसे धौली गंगा, विष्णु गंगा, हनुमान गंगा आदि।

जैसे ही वातावरण बदलता है शब्द भी अपना रूप बदलते हैं और इसीलिए सांस्कृतिक विकास के साथ अर्थ का विकास शब्द का एक अनिवार्य गुण बन जाता है। सांस्कृतिक कारणों से ही हमारे युग में हरिजन, गिरफ्तार, जजमान, बिर्ती (वृत्ति) आदि शब्दों ने नए अर्थ ग्रहण किए हैं। दूसरी ओर कई शब्दों में अर्थापकर्ष हुआ है जैसे द्वारिका गढ़वाली दारो (चंचल वाचाल और कामुक स्त्री), दूती गढ़वाली दुत्ती (बातें बनाने वाली दुश्चरित्र नारी)। इसी प्रकार संस्कृत रण्डा गढ़वाली रांड (विधवा दुश्चरित्र स्त्री)।

सामाजिक सांस्कृतिक रूढ़ियों, मर्यादाओं और अंधविश्वासों के कारण गढ़वाल में कुछ शब्दों का प्रयोग वर्जित है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति किसी शुभ कार्य के निमित्त कहीं जा रहा हो तो उसे '[illegible]' आ रहे हो' कहकर नहीं टोकते। इसके बजाय भाग्यकी सौद या सिदा त शब्दावली का प्रयोग अशुभ नहीं माना जाता। यहां सौद या सिदा त शब्द का शाब्दिक अर्थ सिद्धि है किन्तु व्यंग्यार्थ में उसका प्रयोग सिद्धि के हेतु प्रयाण किए जाने वाले स्थान अथवा उद्देश्य लिए हो।

होता है। इसी प्रकार सामाजिक मर्यादाओं के निर्वाह के लिए स्त्रियाँ अपने पतियों का नाम विभिन्न रीतियों से प्रकट करती हैं किन्तु उन शब्दों का उच्चारण नहीं करतीं, जिनसे उनके पतियों और परिवार के श्रेष्ठ व्यक्तियों के नाम मिलते-जुलते हैं जैसे, चतू नामक व्यक्ति की स्त्री चैन शब्द के लिए 'आवदा मैंनी'—आवन का महीना—शब्दों का प्रयोग करती। इस प्रकार अमंगल के लिए निकटतम अर्थों के बोधक पर्याय शब्द का प्रयोग बहुत मनोरंजक होता है जैसे, काल के लिए मना, बहन के लिए मतो दास, दर्पण के लिए छल (छाया)। अशुभ व्यक्तियों जानवरों अथवा जीवों के वाचक शब्दों के लिए भय अथवा आतंक सूचक शब्द ही प्राय प्रयोग में लाए जाते हैं जैसे, राज व्यवस्था के अधीन में रहने वाला ...—रात को राजा टी० बी०—राज बीमारी विष— ... आदि।

एक ही भाषा बोलने वालों के अलग-अलग क्षेत्रों में फैल जाने अथवा उनके द्वारा अन्य भारतीय और भाषाओं के शब्द ग्रहण करने के कारण भी वस्तु में अधार लिए ... । भ ... चनत्व का परिवर्तन स्वाभाविक है। गढ़वाली में संस्कृत, ब्रज, अवधी, पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि से आगत शब्दों में किंचित अर्थ परिवर्तन हुआ है

संस्कृत

ब्रह्माण्ड विश्व गढ़० बमाण्ड सिर कपाल।
स्वर चार गढ़० सरकार सरल, करलत।
कौतुक उत्सुकता उल्लास हर्ष गीत-नृत्य
कौमीक खेल, मल का नृत्य गान।
मनुष्य गढ़० मनस पति।
युवता >गढ़० ... पत्नी।

पंजाबी

अवधी

गस रास्ता गढ़० गस राह।
झुल्ल हाथों पर सम्हाला वाली चद्दर गढ़० झुल्ला कपड़े।
टीच नग का तो जाना गढ़० टीच घर।
फॉंड कमर के दाना और का भाग गढ़० फॉंड पट।
भीट तालाब के किनारे का भूमि का ऊचा भाग
भीटो विट्टो ढालू जमीन।

मराठी

भरोसा आश गढ़० भरोसो सहारा।
झाळ लू झोंळ ताप गर्मी।
ठमक नखरा ठसक शृंगार।
ठाडो खड़ा ठाडो सीधा गड़ा।
भोर सुबह भोळ प्रात।

राजस्थानी

भायणो गाय भैस जिसने दूध देना बंद कर दिया हो।
भ्रायण (गढ़०) गाय या भैंस का थन।
उकळणो ऊपर उठणा गढ़० उकळणो चढ़ाई चढ़ना।
उरड़ो युद्ध गढ़० उरड़ो भयंकर तूफान और घटा।
घोळ आड़ घोलो घूंघट।
लुद, लुद कष्ट लुद सुधि की पीड़ा।
कतरो काटा हुआ कतरो टुकड़ा।
कालो उन्मत्त पागल काऽलो मूर्ख।

अरबी फारसी

जानवर पशु गढ़० जनौर भाग।
मुकरर नियत गढ़० मुकरिर पक्का।
हकूमत शासन गढ़० हिकमत साहस
बेफजूल जो फजूल न हो गढ़० बेफजूल फजूल।

वस्तुतः गढ़वाली के अनेक शब्द जो अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रयुक्त होते हैं, अर्थ परिवर्तन के मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं
काठो < कट पाली काठो, नीणा कन पहाड़ी दर्रा पश्चिमी पहाड़ी का सीमा

गमन होगा। गढ़वाली में सामान्य अर्थ विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थापकर्ष, अर्थादेश और अर्थोत्कर्ष की दिशा में अर्थ परिवर्तन हुआ है।

गढ़वाली में अर्थापकर्ष के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं

भुला मूल अर्थ छोटा भाई, मगर नौकरों में तिरस्कार न गढ़वालियों द्वारा बुला परन्तु नौकर के लिए प्रयुक्त होता है जिस प्रकार गुजरात और महाराष्ट्र में उत्तरप्रदेशीय नौकर के लिए भय्या।

भर्ता पति गढ़वाली भतार विवाहिता का प्रेमी जार।

छोरा, छोरी सामान्य लड़का लड़की किन्तु गढ़वाली में तिरस्कार के साथ प्रयुक्त तथा अनाथ लड़का, लड़की के लिए विशेष रूप प्रयोजनीय।

माइ मां माई जोगन (प्राय वह जोगन जो सांसारिक वासनाओं से मुक्त न हो पाई हो)।

गढ़वाली में अर्थ विस्तार के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। कुछ व्यक्ति वाचक संज्ञाओं में अर्थ विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए पीछे गंगा और लक्ष्मी की चर्चा की जा चुकी है। उच्चारण और ... भी ऐसे ही शब्द हैं। संस्कृत कौतुक से व्युत्पन्न गढ़वाली कौथीक शब्द अपने विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार सब अन्य शब्द आशा दिशा को लिया जा सकता है। दिशाएं सदा से आशा की प्रतीक रही हैं क्योंकि वे अनागत घटनाओं नई सम्भावनाओं और नई घटनाओं की सूचना लाती हैं। इसलिए बाद में सम्भवतः आशा दिशा संयुक्त शब्द का अर्थ बहू-बेटी हो गया, क्योंकि वे आगाए अवर ससुराल से (मायके का) दिशाओं से होकर आती हैं। गढ़वाल व हरियाना में ठीक ठाकुर शब्द का प्रयोग केवल क्षत्रियों के लिए नहीं, वरन सभी सवर्णों के लिए होता है। इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द लीजिए

सहोदर > सजातर > सोरो गढ़वाली में सजातीय या बिरादर के अर्थ में प्रयुक्त।

कृपाण > किसाण मेहनती काम करने वाला।

भृत्य > गुर्यो दूसरे का काम करने वाला कोई भी व्यक्ति चाहे वह भृत्य हो या न हो और वृत्ति पाता हो न पाता हो।

अर्थ संकोच की भी अधिक प्रवृत्ति गढ़वाली में नहीं मिलती। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

चौपाया चार पैरों वाला पशु।

पुत्रक पुत्र के समान पोसा गया पक्षी।

सम + जड़ समान जड़ वाला संगी या साथी।

राज + भुज > गढ़० रौल सास भरिन का चावल।

दुग्धल > गढ़० दुदला स्तन।

फुया नाटी वाला, नेता, अगुआ।
कडालो काटा वाली—बिच्छू घास।
गडयाल नदी वाली, मछलिया।
हिरण्य सोना, हिण प्रथानुसार मृतक के मुह मे रखा सोना।
लम्बपुच्छया लम्बी पूछ वाला, एक तारा, एक पक्षी विशेष।
मित्र गढ० दहिन अथवा पत्नी का भाई।
सयाणो सयाना गढ० सयाणो मुखिया।
पिसान पीसा हुआ, गढ० आटा।
तिथि > गढ० तीथ क्रिया कर्म करने का विशेष दिन।
मनुष्य > मणस पति।
धनुष > धने ो ऊन धुनने के लिए प्रयुक्त धनुष।
वर्त्ति जीविका, विर्तो पडिताई।
गढवाली म अर्थापकर्ष के उदाहरण ही अधिक मिलते हैं
पत्र पात पातगो, पातडो ज्योतिषियो का पतरा, पतरो जन्मपत्री, पतरो पृष्ठ।
दास असवण।
दड, डाड जुर्माना, सजा।
त्रास सस्कृत त्रास का अर्थ था हिलना और भय से कापना, किन्तु गढवाली म उसका अर्थ मार्मिक पीडा अथवा कष्ट हो गया है।
विथा व्यथा का सस्कृत मूल अर्थ कंपन उत्तेजना मानसिक पीडा। गढवाली म स्वतः विथा प्रान्त जन वाक्यो म विथा रोग क, और या विथा कल आई जसे प्रयोगो म बला के अर्थ म प्रयुक्त होता है।
प्रकाश > परगास रहस्य प्रकट करना।
सीर > सेरो, सस्कृत सीर हल और हिन्दी सीर हल और बला से जोती जाने वाली भूमि के लिए प्रयुक्त होता है। नेपाली म सिर खेत के मालिक द्वारा जोती हुई जमीन को कहा जाता है। तलुगु म सेरि का अर्थ घर की काश्त होना है जिसे जमीदार अपने लिए सुरक्षित रखता है किन्तु गढवाली म सेरो पानी से सीची जमीन को कहते हैं जिसमे धान उगाया जाता है।
खाट < खट्वा खट + लो अर्थी।
पौन < पवन शुद्ध करने वाला पवित्र करने वाला। आश्वलायन गृह्यसूत्र (४ ५ ७) म अन्त्येष्टि के पश्चात मनुष्य की अस्थियो के लिए भी पवन शब्द का प्रयोग हुआ है। गढवाली पौन प्राण और आत्मा के अर्थ म प्रयुक्त होता है। तुलनीय कबीर दस द्वार का पीजरा तामे पछी पौन।
ऋतु प्राचीन गढ० म महीने के अर्थ म प्रयुक्त।

दीदो संस्कृत दिदी अथवा दिदि उस अविवाहित बड़ी बहिन का सूचक है जिसकी छोटी बहिन विवाहित हो। दीदी अब केवल बड़ी बहिन का अर्थ देता है। इसी आधार पर बड़े भाई के लिए दिदा अथवा दादा, दादू जैसे शब्द प्रचलित हुए प्रतीत होते हैं।

सुद संस्कृत क्षुद् अपभ्रंश खुद भूख लगने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। गढ़वाली में खुद उस 'आत्मिक क्षुधा' अथवा उत्कंठा को कहते हैं जो एक-दूसरे से वियुक्त होने पर मन को क्षुब्ध किए रहती है।

दिन सामान्यतः दिवस के अर्थ में प्रचलित शब्द हैं किन्तु गढ़वाली में कुछ प्रयोगों में इससे सूर्य का अर्थ भी व्यंजित होता है, जैसे दिन धार खड़िगे दिन पर्वत शिखर पर चढ़ गया। इसीका एक रूप दीन दुपहर के अर्थ में प्रयुक्त होता है दीन मा आई—दिन में (अर्थात दुपहर में) आना।

पातर < पात्र अथवा अभ्रातर वेश्या।

शगून वैदिक साहित्य शकुन का अर्थ पक्षी मिलता है। गढ़वाली में इसी अर्थ का विकास सगून शब्द में हुआ है, जिसका अर्थ मिष्टान्न है (वह माल जो किसी अनुष्ठान में बकरे की बलि देने पर घर घर में बाँटा जाता है)।

स्वर्ग > सग आकाश।

गगन > गणा तारे।

शुष्क > सुक्सो मुरझाई हुई सब्जी।

देसी सामान्य अर्थ देश का, किन्तु गढ़वाली में देसी का अर्थ है—मैदानी भू-भाग का।

माया दया गढ़वाली में प्रेम।

प्रभात कल (सुबह)।

क्रोध > कुरोध मन की पीड़ा—चल बौराणा

सऊ बठी औंदा, मन को कुरोध तखी म लौला।

धँन संस्कृत पशु धन गढ़वाली में पशु शब्द के अभाव में भी धँन का अर्थ पशु (पालतू) ही होता है।

गूण कोष के अनुसार इसका अर्थ संस्कृत में बाल था। फिर इसका प्रयोग बाल या ऊन से बटे डोरे के लिए होने लगा। गढ़वाली में गूण ऊन तोलने की तुला तथा माप के लिए कहते हैं। गोणी (बालों वाला बन्दर) शब्द इसी से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

आतुर संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग रोगी के लिए होता था। बाद में यह सादृश्य के कारण मानसिक पीड़ा का प्रतीक बना। गढ़वाली में यह शब्द इसी नये अर्थ में प्रयुक्त होता है—आतुरो विपत्ति आतुर बहुत दुखी।

कातर > कायर, गढ़वाली कायरो—कायरो नी होणू दिल दुख मैं छाया

करना। हिन्दी कायर से भिन्न अर्थ व्यक्त करता है।

शाखा टहनी, वेद की संहिताओं के पाठ, तथा ऋषियों द्वारा अपने गोत्र तथा शिष्य परम्परा में चलाये गये भेद। गढवाली में शाखा वंश विस्तार।

ऋद्ध समृद्ध, जमा किया हुआ अन्न गढवाली रीद्धो चावल आदि बढ़िया अनाज।

कंठ > कांठो पर्वत-कंठ, शिखर।

बाठी, बाठीण संस्कृत बठ अविवाहित पुरुष। गढवाली बांठीण चतुर अथवा सुन्दर स्त्री।

वधू > बौ भाभी

छविल > छल छाया

भूमि > भुइं नीचे

मल > मोळ गोबर

पालि > पाळ सैवाल

सेवा अभिवादन, सेवा आयान अभिवादन स्वीकार करें।

बांद हिन्दी बांदी, गढवाली बांद सुन्दर स्त्री।

परयालो < संस्कृत पण परयालो जिसमें देखा जा सके—उजाला।

घर < गृह, सामान्य अर्थ के अतिरिक्त घर का अर्थ छेद भी, जैसे—बटन घर, घर करणू छेद करना।

शब्दों के पर्याय और अर्थ भेद

गढवाली में शब्दों में अनेक पर्याय मिलते हैं। इसका कारण ऐतिहासिक प्रतीत होता है। भिन्न भिन्न समय पर गढवाल में अनेक जातियाँ प्रवेश करती रही जो अपने साथ अपना शब्द-समूह भी लेकर आई होंगी। ऐसे पर्यायों का बोध गम्य बनाने के लिए प्रारम्भ में उन्हें साथ-साथ प्रयुक्त किया जाता रहा होगा जिसमें बाद में उनका प्रयोग रूढ हो गया। उदाहरण के लिए सूद-ब्याज चीज वस्त, स्वद-गुस्यू जैसे सह प्रयुक्त पर्यायों को लिया जा सकता है। किन्तु यह गढवाली की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। उसमें पर्यायों में पर्याप्त भेदीकरण के दर्शन होते हैं। एक ही मूल से उद्भूत शब्दों में भी अर्थ भेद की यह परम्परा गढवाली की बहुत बड़ी विशेषता है। उदाहरण के लिए करम, काम, काय कारज, काज, मनुष्य के लिए और कारज धार्मिक अनुष्ठान के लिए प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार वत्स > बाछरू, बछडा, किन्तु वत्स > बैछ छोटा बैल।

माणस, मन्स, मणस्वाख, मनखी आदि शब्दों को लिया जा सकता है। मन्स पनि

यहाँ कुछ गढवाली पर्याय अर्थ भेद के साथ प्रस्तुत हैं

१ रोणू रोना, उकसणू सिसकना, पुलकणू जरा ओठ खोलते हुए रोना,

घुकरणू फूट फूटकर रोना।

२ हँसणू हँसना, निकतणू दाँत निकालकर हँसना हुँसिम हँसी, खितखाणू खिल खिलाकर हँसना।

३ दनकणू दौड़णू दौड़ना भटगणू पशुओं का दौड़ना भुरकणू पशुओं का पूँछ उठाकर तेजी से दौड़ना।

४ कुरयाण जलने की गंध चवीड़ याण कपड़े जलने की गंध, कुताण कपड़े जलने की गंध, भुज्याण भूनी हुई चीज की गंध।

५ स्यण < स्यामिनी–पत्नी, ब्वारी < व्यवहारिता (दासी)–पत्नी पुत्रवधू, भानूवधू जनानी स्त्री पत्नी कज्याण (काम करने वाली) स्त्री, पत्नी।

६ मुख चेहरा खाप मुख विकर घिच्चो मुँह।

गढ़वाली में इस प्रकार पर्यायों में भी अर्थ भेद को प्रकट करने वाले शब्दों की प्रचुरता है। उनमें एकार्थी पर्यायों की अपेक्षा समानार्थी पर्याय अधिक हैं।

अनेकार्थकता

गढ़वाली में संस्कृत के समान अनेकार्थक शब्द अधिक नहीं हैं। ऐसे शब्द अवश्य हैं जो पुराने रूढ़ अर्थ के साथ-साथ किसी नवीन अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। जो कुछ शब्द प्राप्त होते हैं उनकी अनेकार्थकता के पीछे सादृश्य का तत्त्व निहित है। उदाहरण के लिए मिट्ठो शब्द मीठा और प्रिय दो अर्थों में प्रयुक्त होता है (तुलनीय हिन्दी माहुर जो मधुर शब्द से व्युत्पन्न है)। जड़ पेड़ की जड़, किसी काम का मुख्य कारण (जैसे रोग की जड़) तथा संतति के लिए होता है, जैसे, व की जड़ मरयान—उसकी जड़ (सन्तान) मरे। इसी प्रकार, शाखा शब्द का विस्तार के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

परिशिष्ट

गढवाली की उपबोलियाँ

सामान्यत जिस भाषा में साहित्य न हो उसे बोली कहा जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार साहित्य हो न हो बहुत-सी मिलती जुलती बोलियों की समष्टि का नाम भाषा है। इसीलिए वे पर्याप्त साहित्य न होने पर भी बोलियों के आधार पर मराठी, गुजराती, राजस्थानी के समान गढवाली को भी भाषा मानते हैं।[1] वस्तुत गढवाली के कई भेद मिलते हैं।

श्रीनगर और उसके आस-पास बोली जाने वाली गढवाली आदर्श मानी जाती है। इस क्षेत्र से बाहर गढवाली बोली के अनेकानेक भेद मिलते हैं। ग्रियर्सन ने गढवाली को आठ उपबोलियों में विभक्त किया है श्रीनगरी, वधाणी, दसौल्या, माझ कुमैया नागपुरिया सलाणी, राठी, टिहरयाली।[2] यदि इतने अधिक भेद बहुत स्पष्ट नहीं किन्तु छोटे मोटे अन्तरों का विभाजक माना जाय तो टिहरी जिले की बोली (टिहरियाली) को और कई उपबोलियों में विभक्त किया जाना चाहिए था। उसके मुख्य ये भेद ठहरते हैं—टकनौरी-बाडाहटी, रमाल्या, जौनपुरी, रवाल्टी बडियारगढी, टिहरियाळी (टिहरी नगर के आस पास बोली जाने वाली मार्जित गढवाली)। किन्तु हमारी दृष्टि में इतने अधिक विभेद करना युक्ति संगत नहीं है। टिहरी जिले की गढवाली के दो भेद ही पर्याप्त हैं गंगाड़ी और जौनपुरी-रवाल्टी। गंगाड़ी और जौनपुरी नाम हमने गंगा और जमुना (यमुना>जौन) नदियों के आधार पर दिए हैं। वास्तव में पहाड़ों में गंगा और यमुना के तटों पर भाषा और संस्कृति का विकास दो भिन्न रूपों में हुआ है। सम्भवत इनके तटों पर बसने वाले लोग भी भिन्न भिन्न थे। गंगा प्रदेश की भाषा यमुना प्रदेश से काफी भेद प्रकट करती है। जौनपुर और रवाई यमुना क्षेत्र में पड़ते हैं। इस प्रदेश की भाषा पर जौनसारी हिमाचली आदि का प्रभाव अधिक है। यह प्रभाव यमुना के उद्गम पर उतना नहीं जितना ३० ३५ मील आगे चलकर है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश की भाषा में संस्कृत शब्दों में ऐसे तद्भव रूप मिलते हैं जिनका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। उच्चारण में अ>ओ हो जाता है ऐ>ओइ, स>श और

---

१ आ० किशोरीदास वाजपेयी भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० ३०२ १०

२ ग्रियर्सन लि० स० इ०, जिल्द ६, भाग ४

स>ह। महाप्राण ध्वनियाँ प्रारम्भ में ही अल्पप्राण हो जाती हैं। क्रिया के दो वाले पश्चात् रूप कम प्रयोग में आते हैं, जैसे कहीं जाता है—सामान्य गढ़वाली में मेरा जादो, पर रवाल्टी जौनपुरी में—दोरो नठ। सहायक क्रिया छ का प्रयोग भी भिन्न है। थानक के सहज में रवाल्टी जौनपुरी में स्वरागात और आरोह अवरोह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमें सम्प्रदाय कारक में रो रा, रो विभक्तियाँ प्रयोग में आती हैं।

टिहरी के रमोली तथा उत्तरकाशी क्षेत्र में स ह में परिवर्तन मिलता है। टिहरी के आस पास भूनवाल में छौ सहायक क्रिया की अपेक्षा थौ का प्रयोग होता है। उसमें संगीतात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति भी अधिक है। चन्द्रवन्ती के मुसलमान चुरड़ता इस लहजे में बोलते हैं कि लगता है जैसे गद्य में ही कोई गीत गा रहे हैं। भरदार और बढ़ियारगढ़ क्षेत्र की बोली श्रीनगरी के अनुरूप है किन्तु नरभाग में संगीतात्मक लहजा है।

गढ़वाल की उपबोलियों में उच्चारण में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। कुमाऊँ और गढ़वाल के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग (जिन्हें दोसानी <स्थानीय नाम कहते हैं) एक मिली जुली भाषा बोलते हैं। सीमा पुरुषों पर कुमाउँनी का प्रभाव अधिक है।

पौड़ी गढ़वाल की उप बोलियों में ए ध्वनि या या हो जाता है देस यास और घो या—घोड़ी घ्याड़ी। उसी प्रकार से ए रूप में उच्चारित होता है गणीक गणीक। मध्यग र प्राय सभीकृत हो जाता है मारला माल्ला। करला कल्ला, करणू कन्नू। सहायक क्रिया के रूप में तो का प्रयोग भी मिलता है। क्रिया प्राय एकारान्त हो जाती है गन गन, लटीन लडीने। अ ध्वनि आ, ओ अ या आ रूप में मिलती है घँर, घार घार घ॑र, बडा बोँडा। यही नहीं शालाणा आदि में दीर्घ ध्वनियों की प्रवृत्ति ह्रस्व की ओर मिलती है जैसे जमाना जमना। इसके विपरीत कहीं ह्रस्व ध्वनियाँ दीर्घ हो जाती हैं छ्यो—छायो गयो गाय, खाय—खाय। टिहरी के प्रोणू युसोणू आदि रूप पौड़ी क्षेत्र में प्राणू बुसाणू आदि हो जाते हैं। कर्ता का परसर्ग न ल रूप में मिलता है और कर्म या सम्प्रदाय में कुणी परसर्ग आता है जो कभी गणी भी हो जाता है। सर्वनाम में एकाध क्षेत्र को छोड़कर मी रूप में प्रयुक्त होता है। ये विशेषताएँ टिहरी गढ़वाल की उपबोलियों में नहीं हैं।

गढ़वाली बोली के इन अवान्तर भेदों के कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों रहे हैं यातायात की बाधा, दुर्भेद्य पर्वत और नदियों के घेरे में गढ़वाल अनेक छोटे भागों में बटने को बाध्य रहा है। फलत उनमें भाषा का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र की बोली में कुछ स्थानीय विशेषताएँ ऐसी भी मिलती हैं कि यह मानने को जी होता है कि उन क्षेत्रों के

बसन वाले लोग विभिन्न जातियों के रूप में आए होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल में कई जातियाँ आई और बसी और गढ़वाली भाषा को उन्होंने अपने उच्चारण में ढालने की कोशिश की। इनमें गुजर, खस, शक, किरात नाग भील आदि मुख्य रहे होंगे। और यदि यह माना जाय कि मध्यकाल में भी अनेक जातियाँ राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात आदि स्थानों से गढ़वाल आईं तो मानना पड़ेगा कि वे भी अपनी भाषाओं की प्रवृत्तियाँ लेकर आई होंगी।

यहाँ गढ़वाल की उपबोलियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जो 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया' (जिल्द ९, भाग ४) से क्रमशः यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं।

श्रीनगरी एक आदमी का द्वी नौनाळ छया। ऊँमान छोटा नौनान अपणा बाबाजी मा बोले हे बाबा जी, जिन्सन माल मेरो जो हिस्सा छ मैं दे द्यावा। तब उन अपणी विरसत बाट देवे।

राठी एक मनख का द्वी साँड छाया। ऊँमा नान लौन्ड बाबू सणी बात कि यार बाबू तू कुछ माल दस्त मालन वाटा मी चणे दे। तब बाब ऊ सणी जो कुछ चीज छद बाट देयें।

दशौली एक आदमी का द्वि छिनौड़ा छिया। उन् मधे नाना छिचाड़ै न अपणा बुबा जू मू बोलो कि हे बुबा जी माल जमवाव मैं मेरी वाट म दिया। तब बल जमवाव बाँटी दिनो।

दसौल्या कई आदमी का दुई लड़ीक छया। तनू मा कोणिमा ने बोलो हे बुबा मार मतान की जो मेरा वाटा होव सो मैं देवा। वबा तावू न बाँटो दिनो।

नागपुरिया एक बल का दुई लौंटा छया। तौं मधे लड़ा लौंडान बुबा से बोले हे बुबा, जो मेरा बाटो माल को मा म दे। तब बुबान म सणी बाँटी दे दिने।

सलाणी एक जणा का दुई नौना छया। ऊँ मा कांणसान अपणा बुबा मा बोल्यो, हे बुबा जो माल ताल मा जु मेरा बाँटो हाथ सो मी दी देवा। तब वन ऊँ का बीच अपणी माल-ताल बाटा दिने।

टिहरियाली एक मणा का द्वी नौनाळ थया। ऊँमान कणसान अपणा बुबा मा बोले कि हे बाबाजी, जु विरसत को बाटा मेरो छ म दी द्या। तब वन विरसत ऊँ मणा बाँटी दिने।

लोहब्या एक बल का द्वी लाला छया। उन् छोटा लाड़ल अपणा बुबा मा बोलो कि ऐ बुबा जो अपणा धरता दाम मात जा मेरो बाँटो हो सो मो दे दे। तब वत अपणा अन्न बाँटा दिनो।

माँझ कुमैय्या एक मस का दुई चेला छिया। उनो मा कांदसा से बाबू छो बोलो ओ बाबू सम्पति या मेरी जो हसीत छ त सणी मैं सणी देवा तब सलो उनो सणी अपणी सम्पति बाँट दे छ।

हिन्दी किसी आदमी के दो लडके थे। उनम से छोट लडके ने अपने पिता से कहा कि ए पिता जी, विरासत म मेरा जो हिस्सा है, वह मुझे दे दो। तब उसने अपनी जायदाद बाँट दी।

ग्रियसन द्वारा सकलित कुछ उद्धरण मुझे उच्चारण की दृष्टि से ठीक तरह से अकित नहीं प्रतीत होते। उच्चारण की दृष्टि से नीचे के ये उद्धरण दर्शनीय हैं।[१]

टिहरी श्रीनगरी एक वगत मा द्वी नामी जोगा छा। एक पूरब का कोणा मा अर दोसरो पच्छिम का कोण मा रन्दो छो। एक को नऊँ सुणीक दोसरा पर जलि आग लग जानी छई। एक का डेरा म दोसरा का डेरा जाणा मा बार बरस का बाटो हिटणो पड्दो छो।

रवाई जौनपुरी यक्क समय दू वेग्या बाँकरा थीर हीं। यक्र पूरब छाडू रो। हैकू पश्चिम का छोर रो। यक्रा कु नौं सुणी, हैकू अऔ फुक्रा जाऊ। यक्रा का दार सि हैकरा का दार जाण मु यक्र जुग कु वाटू हिटण पडो।

चौंदकोटी सलाणी एक बन मा द्वई भारी नामी भड छाया। एक पूरब मा हैक पच्छिम मा रन्द छायो। एक को नाऊ सुणी हैक फुकेद आन्द छयो। एक का धार मा हैकरा धार जाण मा बारा साल को बाटू हिटणू पडदो छायो।

इनम भी टिहरी (नगर क आस पास) की बोली का रूप नहीं आया है जिसम छ क स्थान पर भूत म थ क्रिया का प्रयोग होता है।

भाषा के उच्चारण की नजाकत लहजे और शैली की दृष्टि से ये उदाहरण विचार की सामग्री प्रस्तुत करते हैं[२]

नथाणी कुण कति हुयार ह्वगे।

सलाणी मिल चाल दादु र, ब्वारा पर कपयार (कल्याण) चढि ग्याया, डमरू बजाति डौंरो।

जौनपुरी को की जा रे म ता। उडि औ र।

बनारी श्रीनगरी नौना का बावा जी पौ भर बासमती लाई छया। आज वी पकाए। द्वी फल तौंन खाइने, द्वी मन थोडा नौ याळून भी खन। बाकी सारी डगची बचा छ।

टिहरियाली नजारी अलो गल्या, मैं चल्या ज र थी। निन्यान का घुटणा उतार पर रचपच ग था पर चलण मा मजा ऐ रई थी।

रागसी खरान खाकडी का झाड वालर खाफळ का तळ खाकड मार। (क >ख)।

रवाल्टी का बहुगुणा जी ने जो उदाहरण दिया है वह रमोली उत्तरकाशी की वाली के लिए ठीक पडता है रवाइ की नहीं। रमोली की बोली का एक उदाहरण

१ राहुल साकृत्यायन हिमालय परिचय (१) गढवाल, पृ० २ ८
२ चक्रधर बहुगुणा गढवाली साहित्य की भूमिका पृ० ६१

लीजिए

बल हैं लो काका ह्वैले हीदो हीदो जाण, तब हुरु इ हुरु, तब हुडकी हुडकी। हैं लो याळी, तु नादी कैंह नी। (स>ह)

एक ही शब्द के उच्चारण और रूप म गढवाली की विभिन्न उपबोलियो मे अन्तर के मनोरजक उदाहरण मिलते है। यहाँ काले टाइप से ऐसे शब्दो की ओर इगित किया गया है। कोष्ठका म अन्यत्र प्रयुक्त रूप दिए जा रहे है।

१ जो जस देने (द्यान, दया) धरती माता।
२ क्या छया (छवा छा, छन) वुवा जी निन्द सुनिंद।
३ दे (दी) देवा (द्या) बाबा जी कन्या को दान।
४ रमासी क्वे (कु, को) फूल कविलास।
५ चौपाती ह्वे ग्याय (ग गए) न डाली पया जामी।
६ लुकारी ब्वरियान चो नाळी कूटयन्ने (कूटिन)।
७ भोरलि पद्धी ब्वे, वासण लने (लन, लगिन)।
८ परगट ह्व जन (जान जाया, जायन) पाव पडऊं।
९ चन्द्रागढ मा रन्द (रौन्द रन्द राद) ओ सूजु सुनार।
१० जा भुलि स्वारी मन्यारी आया छो (छन)।
११ ढेबरा लुकदीन (लुकदान लुक्दा, लुक्दन)।
१२ मैं (मी, मजि) बोलणू (बोनू, बोळनू) छौं।
१३ मुडळि लुरमग न्वे (बोई बई) मजुरी क क को (कक, करीक)।
१४ मैं घौर (घॅर घार) गो (गयू)।
१५ तुम मनलो छ (छा छयाई छन) हम पशु छौं (छवा, छां)।
१६ तुम जाणा होला (ह्वला ह्वाला, ह्वल्या)।
१७ सरी (सडी सरा) रात डौंर (डॅर, डौर) लगणी र (राय)।
१८ मेरो (म्यारा म्यरो) भ छो आयू।
१९ उ घर ज र थान (छा) मैं भी गल थो।
२० बेल (व न) गौं त धाम देये (दिन)।
२१ मीन त्यारा ड्यारा नी आणू (औण)।
२२ त बोज (न्वान न्यॅन) म्वी घरदे।

आग के परिशिष्ट म हम इन उपबोलियो के साहित्यिक रूपा की चयनिका दे रह रहे हैं। गढवाली म साहित्य रचना टिहरी श्रीनगरी म ही हुई है। इस भाषा का साहित्यिक रूप मिश्रित है। वास्तव म टिहरी (नगर) और श्रीनगर की गढवाली म कुछेक क्रिया रूपा के अतिरिक्त कोई बडा भेद नही है।

चयनिका

रवांई जौनपुरी

(१) घोट दे घौर[1] रानी ने इटणो[2], घोड़री[3] बाग्सा घोर
घाडी[4] जिन्दगी तरी जाली मेरअँ लाभी घोद[5] शोर।
(२) तेरोम मेरोमैं नौगिय[6] लोन्ही घौरेर माता
पारो घाभिय टागिन्न वौष पड बद्दत[7] मौंरा।
सांपिर[8] लाह मुन्री पार दवल काटी
माऊ[9] पान्दप दोट ताऊ[10] चाइथी न्एरी बाटी[11]।

—गढ़वाली लोकगीत[12]

(३) राति रण तुलि सिया बिजोगी जागी
पर गलमुती हार नूग रका बिचार।
नगी पाणी पणार दस गुना का मिग
सिया लागी बडरी बार, सिया जाणी नी थाई।
तु जा लखण झाई, क्या लागी बडरी यार
की भनी ताम धनूडी, की ताडी गलमती हार।
तबरे की सिया पौंछी आद राम लाद बाल
'पाणिक गुना मिग, एनी जांगिय आण।
'तरा फूचे धध गुना का मिग न हुद।
'कस बताऊल साम्बी देस आपनी आली।
जागि गुना मिग ताऊंल मारवाडी पाग,
मुख आंगूडी घाघुरी, टोपली लम्बणार भाग।

—सीता हरण[13]

---

१ मार, २ हिटणा ३ दैरा ४ बाजां ५ हांद, ६ मधी, ७ दैरय, ८ सौंप का, ९ मैं, १० तू ११ था।

१२ मेरी पुस्तक 'गढ़वाली लोकगीत' से उद्धृत।

१३ मेरी पुस्तक गढ़वाली लोक गाथाएँ (मास्टर प्रेस देहरादून) पृ० १०७

गुदेड नौनी

बोढि बोढि ऐगी ब्व दग पूष मना !
गो की बटी-ब्वारि ब्व, मतु आई मना।
मतुबा बूलानि ब्वे थोई होत्ति जौंकी,
मरि जीबूडी मा ब्व, बुयढि-सी लौंकी।
मल्यडो बासलि ब्व डांडयू भत मासऽ
मोळि गन डालि ब्व फूलिगे बुरांसऽ।
लाल धणो होनी ब्व, काफनू की डाळी,
लाग लोग होला ब्व लोण राळी राळी।
ल्हानि बूरो गाडी ब्व गौं की बेटी ब्वारी
हरि भरीं होली ब्व, गऊ जो की सारी।
मतु ऐ न होलि ब्व दीदी भुलि गौं की
मरी जीबूडी मा ब्व बुयढि-सी लौंकी।
स्वामी जी गदानी ब्व परदेश रनै
शाय) का दगडया ब्व घर आई गनै।
ऊँचू प्यारो ह्वगी ब्व बिग्गेमू का बासऽ
थाटो देखी-दखी ब्व गन ग्लिन-मास।
थाडुली लगली ब्वै आग भभराली,
या त घर आला ब्व या त चिट्ठी आली।
गाळी देंदी सासु ब्व न बाबू की भारी,
सामी खाणु देंदी ब्व बोली मारी मारी।
बादी तेरो बाबू ब्व जो रुप्या नि खादा
मेरा लाडा प्यारो ब्व बिग्गेनू नी जांदो।
बाबान वणाये ब्व इनि, गति मेरी,
ज्वानि उडिगे ब्वै, थाटो हेरी हेरी।
चिठी भी नी आई ब्व तब बटी तौंकी
मेरी जिबुडी मा ब्व, बुयडी सी लौंकी।[1]

गुदरू का नाक जिटे सिगाणा की धारी छोडिक देकी मुख वकी भगुली सब मला छन। गुदरु की मां अलगसी सलचट ओर लमडेर छ। भितर देखादो थोलद मख बखरा रद होला। मळो ब्वणेक घुळपट होयूं छ। भितर तब क्वी चीज इथ क्वा उय। सारा भितर तब मार घिचर होई रये। भांडा कूडा ठोकरियू मा

[1] भजनसिंह 'सिंहनाद' गुदड बेटी गीत।

लमडणा रैन । नाज पाणी की खत—एक माणी पकौणू कू निकालन त द्वी माणी खतई जान्न अर जु क डूम डुक्ला भिखलाई मणी दणा क बोला त हर्रां ।'

—गढवाली ठाट

म्योली[2]

क गौं मा एक छोटी सी मौज रन्दी छ । व मा सिरप तीन मनखी रन्द छा । एक बुडीड एक वाकी नौनी अर एक वीकी ब्वारी । सवा मिलीक धाण करदा छा अर मेता पानी करीक पेट पाल्द छा । बुडीड असक्दी छ । सो सती को सारा काम धदा वीका नौनी अर ब्वारी ही करदी छ । वा दुयुग अवा इस्येइ छ अर उनी एकी उमर की भी हालो । ब्वारी भौतइ भोली अर कामकटू छ । साम्यू आच्छी छ पर ब्वारी फेर भी डरी-मरीक ही रन्दी छ । नौनी अबी न्यौ नी हाय छौ । मंझा का लाड मा पालेणी छ । यान वींका सुभौउ मा वेफिकी छ, कुछ बा चुल-बुलो अर लापरवा भी ह्वगी छ ।

एका दिन ऊनी द छुई । ऊन पल त ग्या का वैंडा खल्याण मा बखेरीन । बल्दू की द्वी जोडी मेलीन अर ऊ का गिच्चों पर मुस्का बान्धीक रिगौण ल गन । तब-रेक दिन मुड मा ए गय । नाज माडणक भौत छयो । जेट का घाम मा बल्द घामन गलाण ल गैन अर पसिना से लतपत ह्वेव गन । तब जक त बुडीड भर आय अर वीन बल्द मेलण क बोले । दुयी न बल्द खोलीन । बल्द लम्बी लम्बी जीब गाडीक खलाण लगन । बुडडीन बोने यू तीस लगीग । पाणी पिलौणक ली जावा । पाणी जरा दूरू छौ अर नणद भौज कभी छुयों मा ही लगी आन्नी छ यान आन वि बलम न हा बुडडीन की ललमायन भेरो आज भौत आच्छो खाणा छ बणायू । जु आपणी बल्दू का जोडी त पली पाणी पिलक लौली, वी मैं तस्मइ खूलो खाणक ॥ ।

मैन खाण, नणद वाल । होए भौज रिमाणे । वीन मरकवात्या ,बल्द की तरी वी पर ट्रे अर फेर आपणा बल्द सरवट भगन । नणद चिरडेणे । वीन भी आपणी बल्दू की जोडी तेजी मे हाणन लगाय । ऊँ पर छुट्टी बरम्न पर भौज का बल्द सरख वखी पौंछी ग छा । वू सणी छौंपी सकणो वी त असभौ मालम पडे । पाणी को तान गौं का पल्या पात्रा पर छया । नणद त गुस्सा आय कुछ त अफू पर, कुछ बल्दू पर अर सबस जाग्न गुस्सा वो आपणी भौज पर आये । वीन सोच तस्मइ त अब थाई मिलण । तब वीन जु उठाय अर आपणा बल्द ज्दवाट बिटी ही धौडाद दिनीन अर तनी तीमा ही मुटा पर बाँधी दिनीन ।

१ 'गढ़वाली' नी के लत 'गढ़वाली साहित्य' म उद्धत और स लिन्द कुकरता द्वारा लिखित ।
२ मेरी पुस्तक 'भारत माता द पना' (सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित) में संकलित लोक कथा ।

भग्नान तन गौनी त भादाशा ि। पाछ्यागी भो तागणा वन्दू लार आय। गाग्गु तसमद का कटोरा गौनी मा अगाड़ी रग अर ब्वारी मू छँछ्ना धर। शारा छदना का गार उन्दू पूली छ अर यो उन्दू औंद छौ। गौ त कवा तसमद का कटोरा का धार आन्दो छौ अर यनी गन्दू त पाणी न पिनादा था। पर गन्द का बीन गिरन नी करे।

गौण का धरम सीमा तड़पण लगन। खाणा खाण का पाछ्वा त ध्यार आय। धीरा धीमा काल गगा तसमद त निन नहीं यान। अब यन वन्दू त पाणी न प्याल। भाज अर नणद गोनाला मा पाछ्यौ पर दनन क्या छन कि एक वल्द सीमा गरयूं छ। वन्द त दरत सीसा तड़फणू छा। यनी आंखू ना आंसू छा। घान्दा दर मा वरी मोण यात ह्वक तड़फ्यांनी छ्र गय। स्ना बान्दा कि मरदी दी वन नणद न गराप दिन जा तू पछी ह्व जा अर मेरी ही तरों तड़फनी रै।

वा नौना का गान तय पद्दी मा पड़ी गन। तबरी बिट या व बल्द की तरौं नौसी रन्दे। अर जट या दाफरा मा सरग दादू पाणी द नी बाणी मा मरग मू पाणी मांगदी रद। पिर्यां को पाणी का नी पन्दी। व मा यी त बल्द का स्व देखेन्द।

सलाणी

बया च ब्यारी नार बटीं जु नारम छा। आमनो वी देरणी छ नपू। तू नि गधार द् रग। अर या स्वीकू या बरसड यूं की किताब ल्हयी च। नव धाणा वगी एकी रोज इ किताब पढ़ा कर।

द गरम सुलार त ह्व गाया। काम काज वेकू छ नी च। यू मान्गि स दी दीण धुन ल्व धीना भोरी एया। हे छोरी तू क्वणी छई।

—भारी भूल'[1]

हरसिंह पण्डितजी माराज प्रश्न करा।
बदरान अर वठ त सइ। सया न सोंनी, भकम प्रश्न करा। यन्न होये इतना यवरात ?
हरसिंह नानी तुम भजन त करा। मिन जि वन देण त प्रश्न क्याकू ? आज मिन द्वी चारू की ल्हाँस कन।
वदरान ले एत्र एक गानी दिन मा चार वगत। एक लान्या ठडू पाणा पे अर टप से ज।
हरसिंह भेजा गुरजा चक्र्यो न करा।
वदरान अच्छू यार अच्छ। इनि जि पई च त्त परत (रेखड़ा खांचन्न) जा

१ नारसिंह नेगी भारी भूल' नाटक, पृ० ११-१७

भितर बटि आग त मागी नी त सजुला पर। क्या जि होय य आज। बलदों का रुजगार च य को।

हरसिंह (आइक) त वोना ?

चंदराज बोलनू क्या च बटाराम, चौपाया लापता हुयूं च। अरे तिन नरसिंह का खाडू बि त नि द्यो कखबट।

(तुलसीराम को प्रवेश)

तुलसी बडा जी, परनाम करदू।

चंदराज ओहो, चिरजीव रया बेटा कख औणू होय।

तुलसी यहा त ब्याले मयूं ।

चंदराज क्या काम करदयों दिल्ली मा ?

तुलसी दिल्ली का सबसे बडो दफ्तर च जा वे मा छौं।

चंदराज मि समझी गौं बेटा।

(परमानंद को प्रवेश)

परमा हे चंदराज, भनी मि त मोरनू छऊं।

चंदराज अरे ह्व क्या च ? कखी पौ पौणाई भाज भात मा ।

परमा भोज भात त कखि नी गौं, पर ब्याले रात जरा गल्ती ह्वाई गे। बलो-सेर राट्टि ख गौं।

खाडू लापता[1]

टिहरियाली

क जाति कु विजणू उन्नो होंदू जनो की मगन कवी-भाई की सणी सजग्योणद चरगुर पर लग्या रदान। ई विजारधारा की का लिख्वार होन्दान। लिख्वार अपणी भासा सणी सब ति पली हबण नी देंदू केन कि उ लिख मा जनता की गल रदू अर जनता सणी अपणी गन हिटाळणू रद। जु लिख्वार इनु नि करदू उ जनता सौं विगन्यू कर रदू। पर जनता भणी बा अळल्यू चन्दु कि उ की इना सयाळा लिख्वार का फड विटिन कोयगीर न बणू। इनान त इनु होन्दू कि लिख्वाल्न लिख्यू अर लिख्यू लाम्यू फड पड्या। तब इन्नी त होण कि वी जाति का माइस अग्न सकणू त वग पर बगनू भी पाणळ मा पड जान्दू। हम सणा अपणी भासा लिख्वार मणी कखरुयाणू नी होनू।

—श्यामचन्द नेगी

तू रांमू रांसू गौं का लख ना थई। गमू गाड मू चल ! दख द पाणि मा कनो छ तेरी मुखडा।

त तन द्यो द सयाळ फाळ। इ मानू गौं का सारा पिर्यो का फिरडी-फारडी

[1] ललित मोहन थपल्याल क मुद्रित एकांकी 'खाडू लापता' स कांछित रूप मे उद्धृत।

मनीन तब गीता न गानता नि। पाछ म्हारी भी गाणा व गागुर गमट को मगारा गोनी का अगाडी रग अर बारी भू रँधा छदेग का गात उन्नू प्रश छ अर या उन्नू औद छो। यात व पटागा का याान आग छो अर मनी वन्द त पाणी र विवाद पी बीन निगा नी कर।

रण का घ लीमा तनपण स गा। गाणा गाण का पा धीग धीगा काल नना ससमइ स निन र हा पार। अब न्यास। भाज अर नणन गीनाला मा पौछीन पर दज तीसा मरयूं छ। दन्द र यग्न तीसा तन्पणू छा। व थाग्ग दर मा वकी माँध गेल हनइ गवडेयौदी ह मरदी गां वन नणन न गराप नि जा मूं पछी हन र।

आ नाना मा पान तन पछी मा पछी गन। न माली रन। अर जट गा दोफरा मा तरग दा पाणी मांगनी रन। पियाँ को पाणो बा नी ने देहेन।

मलाणी

यथा च म्हारी मात बनी जु दारम मा। गवार ह रगे। अर या रयीत या वगखड यू एकी रोज इ किताव पढा कर।

द गरम गुलार स ह्व गाया। बाग बुम स्व पीडा भौरी रम्या। हे छोरा।

हरसिंह पडितजी माराज, प्रश

बदराज अरे वठ स सड। नया बवराट ?

हरसिंह अजा तुम प्रश्न त ग ह्री पाट की स्पीन

बदराज ले एक एक मार। टप मे ज।

हरसिंह दगा गुन्जा

बदराज अच्छ मार अ

---

२ नानरिह ऐगा

किसमत ही क्य छ कि तुमारा स्याल को न्यारी बण सकी। मूसा खुशी मा परफूल ह्व गय। बोलन लगे क्या बात छ बोलणी कुरेडो रौनेली। तुमने बडो छ को ? कुन्दीन बोने मैं त कुछ भी नी छौ। गाड मैं सी भी बडो छ। वा मेरो सारो पाणी सी लेन्दी। सु तुम वी म जावा।

मूसा तब गाड आज न। वीं मा भी वन वाई बात बोले गाडन भी वाइ अलाचारी दखाय मेरो त जरमद ही ममोन्दर की गल व्यो ह्वगे थयो। अर मेरी गल बनी ध्यो करी करला भी क्या ? मैं पाणाई पाणी छौं। जब भी जादू तरी जमीन त आपडा गल बाराइक लि जांद। नोक मैं सणी गान्नीना भी कर देन्दा। मैं कुछ नी कर सक्दो। तुम रज्जा म कें नी जान्दा। वो आपडी स्याली तुमारा स्याल गल बेवई दलो।

मूमान धौण हगड्याये। तन सोचे, रज्जा की स्यानी गर ही स्याल को क्यो ठीक रलो। तब सब म सी डरला। अर वा जिरालात सूली पर चढ दलू। पर फेर तन माचे रज्जा त नौं नौं का होया कद। असली राज त मन्त्री कर दो। मन्त्री का स्याना मागग म फदा छ। राज काज म भी हात रलो अर रज्जा सा भी जाणकी पछाणकी ह्व जालो। मन्त्री का मर जाण पर मैं आपडा स्याल त मन्त्री बणाइ थूला। अब तन मन्त्री म जाणा हा ठीक समजे। वाटा मा कड् गाणी करदा वो त का द्वार पर गय अर भिन्द ही बोले मन्त्री जा मैं अपणा स्याल सैं तेरी नौनी मागण आमौं। व्या का पाछ मरा स्याल तै ही तुम सणी मन्त्री वणौण पडलू।

मन्त्रीन बोले—क्या छ बोलणू ? वो गुस्सा मा लाल पिंगो ह्व गए बडो आयो मरी नौनी मांगण वाला, मन्त्री बण्न वाला। द्वार रख गया बल मूमा का सारा दिवान होया।

मूमा मारण त वन गुस्सा मा डडा उठाय। मूसा डरे अर भागीक बची गये। भागदा भागदो वो घर पौंछ। वकी मूसी व त अग्वालणी थ। मूसा तै भागी औंद दखि तन पूछे क्या ह्व ? मूसा सणी व बगर बाच नी निकली।

वै दिन विटा मूमो वसा क्वारी मांगण नी गय अर अपडा नौना का व्या भी सैन म मूसा की स्याली गल ही कर दिन।

दीदान और जरा सी पाणी पैण मा यू का सूटा तड़ह टूटी जान्न।

अवारी घाग काटण थो। बजारिया का नौना त बुढ्द बुढ्या तलद रोगन पड्ण लग्यां।[1]

—अध पतन

मूसा का नौना को ब्यो[2]

एक मूसो थो। तको एक नियाल थो। जवार स्यो ना नो ही थो तजार जिटा ही मूसा सणी तका ब्यो का चिन्ता हुग थ। तको जिरादरी मंजन भौत सा मूसा त नणी न्याली दणक रानी था। पर स्या जनुकना दिन्या नी चान्द थौ। त मा बढ थ। स्यो अपू तड़ भोर सी बडा समभद थौ अर ऊं ती स्याणी स्याणी मा ऐथर बन्णो चान्द थो। इस स्या क आच्छा जागा की खोज मा थो।

सदी का यनी सोचद्द रन्द थो कि तका नियाल त कनी उच्चा घर का ब्वारा यन्त्र मिलला। यकी मूसी क मा यनी बोलन्दी थ कि भग न्यान त चौन नमी न्याग स्याया। एका दिन धाका ही बोल्यान मूसा त स्यान आय कि नौन म ही कना न चल्या जाव। अर दो जु उठे वी मुग न ग। नालन त मणी बठाय खून खातर-खातर कर, अर तब औण को नौनू पूछे। मूसान बान न्यौन, स्व चुनी धान्द क्वी ना। मैं स्व त अपणा न्यान की गल खिबोणक आयू। जोन हैंस। सुभौ की वा निमाणी थ अर पौणा पर स्याणू भा बौन ठीक नी समज यौन बात भी बान जाद अर मार भी र जावो, बौन ब तइ बोल म तुमारी बात माणा लन्दी मूसा ठाकुर पर तुम जाणदा ही कि मैं कवी मरी जान्दीं कवी ज्यूदी ह्व जादू। मना भर मा मैं पन्द्र राज बेमार ही रदू। सूलीक त कांडो ह्व जादू पिग्ली पड जादू। दिन रात चलणी रदू। अगास मा मरो डेरा छ। धरती मा हिटण खातर मैं खुटा ही नान अर न बुतन ल पख्डा दान छा।

मूसान बोल तौं की क्वी बात नी। तुम वठ्यी रया दी। मैं त तुम ब्वारी बणानू चा दू। तुम खानदानी छन। लोगू मा तुमारी हाम छ।

जानीन बोन मैं त कुछ भी नी छौ। मैं चुन भी बडी मेरी बण कुरेडी छ। वा मैं चुली गोरी नी छ पर अगास अर पिर्थी दुया जगा तीको राज छ। दखा न, वा मैं सणी भी ढक दन्दी। तुम वी म क्या नी जान्दा ?

मूसो वखन निराशेक उठे अर कुरेडी का धोर गए। वी म भी च बात बोन मैं सणी तुमारी वणन भेजे। मैं तुमू अपणी ब्वारी वणोणु चादू। कुरेडी रसाणे। बिजुली सी चौंके। पर फेर तन माचे कखी जोन दीदान ठटटा त न करे हा। तब कुछ तौंको गुस्सा धमेणे अर बालन लगे हां, रिस्ता त बुरो नी पर मेरी इनी

1 अध पतन भगवती प्रसाद पाथरी।
2 'छाका दानी' पानी में मवलित लोक कथा।

किसमत ही कम छ कि तुमारा न्याल की ब्वारी वण सकौं। मूसो खुशी मा पर-
फून ह्वे गय। 'बोलन लगे क्या बात छ बोलणी कुरेडो रौनली। तुमसे बडो छ
को ? कुरढौन ब्वान मैं त कुछ भी नी छौं। गाड मैं तौ भी वडी छ। वा मेरा सारा
पाणी सी लन्नी। सु तुम तौ म जावा।

मूसा तर गाड ओज न। तौ मा भी वन वाई वात बोले गाडन भी वाइ अला
चारा दखाय मे ने त जरमद ही समोदर की गैल व्यौ ह्वेगे थयो। अर मरी गल
कवी न्यौ करी करला मा क्या ? मैं पाणीइ पाणी छौं। जख भी जादू तखी जमीन
तैं आपन गल बगादक लि जादू। लाक मैं सणी गान्नीला भी कर देदा। मैं ऊकू
कुछ नी कर सकन्नो। तुम रज्जा म कैं नी जान्न। वो आपडी न्याली तुमारा न्याल
गल नवई न्लो।

मूसान धौण टगड्याये। तन साच रज्जा की न्याली गन ही न्याल को न्यौ
ठाक रलो। तव सब व सी डरला। अर वा बिराला त मूली पर चढ देलू। पर फेर
तन साच रज्जा त नौं नौं का होया कद। असली राज त मन्त्री कर दो। मन्त्री का
न्याणा माग्ण म फन्न छ। राज काज म भी हात रलो अर रज्जा सी भी जाणको
पछाणका ह्वे जाली। मन्त्री का मर जाण पर मैं आपडा न्याल त मन्त्री वणाइ
धूला। अब तन मन्त्री म जाणो ही ठीक समजे। बाटा मा कइ गाणी करदा वा त
का द्वार पर गने अर मिल्न ही वाले मन्त्री जी मैं अपणा याल त तरी नौनी
मागण आयौं। ब्या का पाछ मरा न्यान त ही तुम सणी मन्त्री वणौन पडलू।

मनीन बाल—क्या छ वोलणू ? यो गुस्सा मा लाल पिन्ला ह्वे गए वडो
नाया मरी नौनी मांगन्न वाला मन्त्री वण्ण वाला। हार कख गया बल मूसा का
धारा दिवान हाया।

मूसा मारण त वन गुस्सा मा डडा उठाय। मूसा डरे अर भागीक वची गये।
भागन्न भागदा वो घर पौंछे। वकी मूसी व त जग्वालणी थ। मूसा तैं भागी औंद
दखि तन पूछे क्या ह्वे ? मूसा सणी व बगत बाच नी निकली।

व दिन बिटी मूसा कभी ब्वारी मांगण नी गय अर अपडा नौना को ब्यौ नी
तन क मूसा का न्याली गल ही कर दिने।

लिपि संकेत

।

अ उदासीन स्वर, ह्रस्व उच्चारण

अॅ अर्ध विवृत मध्य ह्रस्व स्वर

अऽ विलम्बित स्वर

ऑ अर्ध विवृत पश्च दीर्घ स्वर

इ फुसफुसाहट वाला इ

उ फुसफुसाहट वाला उ

ए अर्ध संवृत अग्र ह्रस्व स्वर

ऍ अर्ध विवृत अग्र ह्रस्व स्वर

ऒ अर्ध विवृत ह्रस्व स्वर

ओ अर्ध विवृत दीर्घ स्वर

ळ मूर्धन्य पार्श्विक घोष अल्पप्राण

* कल्पित रूप

> उत्पन्न करता है

< उत्पन्न हुआ है।

' स्वराघात

कुछ प्रमुख सहायक ग्रन्थ

१ राहुल सांकृत्यायन — हिमालय परिचय (१)
२ राहुल सांकृत्यायन — ऋग्वैदिक आर्य
३ ग्रियर्सन — लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया
४ पिशल (अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी) — प्राकृत भाषाओं का व्याकरण
५ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या — भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी
६ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी भाषा का इतिहास
७ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा — ब्रज भाषा
८ डॉ० नामवर सिंह — हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग
९ टर्नर — नेपाली डिक्शनरी
१० डॉ० भोलाशंकर व्यास — संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
११ डॉ० बाबूराम सक्सेना — इवोल्यूशन ऑव अवधी
१२ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या — राजस्थानी भाषा
१३ डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव — नेपाली लैंग्वेज इट्स हिस्ट्री ऐण्ड डेवलपमेण्ट
१४ नरेन्द्रनाथ — प्राकृत भाषाओं का रूप दर्शन
१५ तेस्सीतोरी (अनुवादक डॉ० नामवरसिंह) — पुरानी राजस्थानी
१६ डॉ० जिनेन्द्र श्रीवास्तव — अपभ्रंश भाषा का अध्ययन
१७ डॉ० शिवप्रसाद सिंह — सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य
१८ डॉ० शिवप्रसाद सिंह — कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा
१९ डॉ० क्नावराम पाल — हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ परिवर्तन
२० शमशेर सिंह नरूला — हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन
२१ हानर — हिन्दी धातु संग्रह (अनुवाद)
२२ डॉ० तगारे — हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश
२३ किशोरीदास वाजपेयी — भारतीय भाषा विज्ञान

२४ डॉ० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
२५ डॉ० उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य
२६ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज
२७ ज्यूल ब्लाख (अनुवादक डॉ० वार्ष्णेय) भारतीय आर्य भाषा
२८ डॉ० हरदेव बाहरी हिन्दी समण्टिक्स
२९ डॉ० त्रिलोचन पांडे कुमाऊँ का लोक साहित्य
३० एटकिन्सन हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स
३१ शूरवीरसिंह पंवार प्रकाश
३२ स्माइथ द वैली आव फ्लावर्स
३३ स्कन्दपुराण
३४ राहुल सांकृत्यायन कुमाऊँ
३५ डॉ० रामसिंह तोमर प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य
३६ डॉ० गोविन्द चातक (१) गढ़वाली भाषा (२) गढ़वाली लोकगीत, (३) गढ़वाली लोकगाथाएं

भाषानुक्रमणिका